शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

सितम्बर : १९६४ ☆ वर्ष २० वाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ४

मुक्ति का प्रथम सोपान

अंतर के चिदानंदस्वभाव को जानकर उसमें एकाग्रता से राग को हटाकर जिन्होंने सर्वज्ञता प्रगट की है, उन सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में ऐसा उपदेश आया कि—अरे आत्मा! तू अपने मूलस्वभाव की ओर कभी उन्मुख नहीं हुआ; तेरा आत्मा एक समय में परिपूर्ण ज्ञान और आनंदसवभाव से परिपूर्ण है, उसे जानकर उसकी प्रीति कर। अंतरात्मा में एकाग्र होने से राग दूर होकर सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है; इसलिये राग तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है, किंतु पूर्ण ज्ञान तेरा सच्चा स्वरूप है।—इसप्रकार राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना, सो मुक्ति का प्रथम सोपान है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२३२]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

— नया प्रकाशन —

श्री समयसारजी परम अध्यात्म-शास्त्र

(तीसरी आवृत्ति)

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्र, श्री अमृतचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़।

यह अद्वितीय जगतचक्षु समान आध्यात्मिक ग्रन्थाधिराज है, परिभाषण पद्धति से जो सूत्र रचना हो वह सर्वोत्तम मानी जाती है जैसी मूल सूत्रों की सर्वोत्तम रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की है, ठीक वैसी ही आत्मख्याति नामक टीका सर्वोत्तम है, वीतरागता, और स्वतंत्रता ग्रहण करने की रुचि से पढ़ने से उसका रसास्वाद आता है।

जिसमें ज्ञानी-अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेदविज्ञान, नवतत्त्वों का रहस्य खोलनेवाले सात अधिकार, कर्ताकर्म, सर्वविशुद्धज्ञान, अनेकांत, ४९ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्यसाधक भाव का स्वरूप आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। उस पर सातिशय प्रचंड निर्मल तत्त्वज्ञान के धारक अजोड़ महर्षि श्री अमृतचंद्राचार्य की सर्वोत्तम संस्कृत टीका है। अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीवों को भी जिसमें समझाया गया है। हिन्दी अनुवाद, तीसरी आवृत्ति, इस ग्रंथ में गाथाएँ लाल स्याही से छपी हैं, कुछ गाथाएँ सुनहरी कलर में हैं। बढ़िया कागज पर सुंदर ढंग से छपने पर भी मूल्य लागत से भी बहुत कम रखा है, सभी जिज्ञासु यथार्थतया लाभ लेवें इसी भावनावश इस ग्रंथाधिराज का मूल्य मात्र ५) रुपया रखा है। पोस्टेजादि अलग। पृष्ठ संख्या ६४१ बड़े आकार की है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[नोट—यह शास्त्र बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, भोपाल, सागर, उज्जैन, विदिशा, लश्कर, इन्दौर, उदयपुर, गुना, अशोकनगर, मदनगंज आदि गाँवों में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा प्राप्त हो सकेंगे।]

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

सितम्बर : १९६४ ☆ वर्ष २० वाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ४

अद्भुत ज्ञान भंडार को खोलनेवाली ज्ञायक की अनुभूति

[श्री समयसारजी गाथा ६ पर पूज्य स्वामीजी का मननीय प्रवचन, तारीख १०-११-६२]

[अहो! सर्व अवस्थाओं में पर से निरपेक्ष, अपने से सापेक्ष, अभेद ज्ञायकमात्र हूँ, उसमें दृष्टि अनुभव द्वारा पर से भिन्नपने से उपासनो में आता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है—उसका वर्णन:—]

आत्मा ज्ञायकस्वभावी है, उसे ज्ञेयकृत उपाधि नहीं है। अनेक को जानता है, भेद को जानता है, ऐसा कहते हुए भी उसे पर की उपाधिरूप अपेक्षा नहीं है। ज्ञान, स्वभाव से ही अपने में ज्ञायकपने में ही ज्ञात हुआ है, पर से निरपेक्ष एकाकी पूर्ण ज्ञायक ही मैं हूँ, ऐसा अनुभव में आया, वह तो वही है, ऐसे परमपारिणामिकभावरूप ज्ञायक की महिमा है, उसी की मुख्यता है, इसलिये उसके आश्रय से ही धर्म का प्रारंभ होता है। स्वसत्तावलम्बी-श्रद्धा-ज्ञान और लीनता को मोक्षमार्ग कहा जाता है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है। नीचे-चारित्र की अवस्था में कमजोरी जितना पर-सत्तावलंबी अंश है, वह चारित्र में कमजोरी है, उसे ज्ञानी मोक्षमार्ग नहीं मानता। अकेले शुभराग में व्यवहार का आरोप नहीं होता। अकेले शास्त्र संबंधी ज्ञान को ज्ञान नहीं कहा जाता।

सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार की गाथा ४०३ में अंगपूर्व शास्त्र के जाननेवाले ज्ञान को आत्मा का मानकर उसे अभेद अपेक्षा से निश्चय साधित ज्ञान कहा है, और उसी ज्ञान को विकल्प की अपेक्षा से व्यवहार कहा है, और वही सम्यग्ज्ञान अंशरूप से आत्म सन्मुख होने से स्वाश्रित है, उसे

छट्ठी गाथा में अभेद अपेक्षा से निश्चय ज्ञान कहा है, कलश नं. १३ में शुद्धनय (शुद्ध निश्चयनय) के विषयरूप जो आत्मानुभूति, वही ज्ञान की अनुभूति है, ऐसा जानकर तथा आत्मा को आत्मा में निश्चल स्थापन करके सदा सर्व ओर एक विज्ञानघन आत्मा स्वरूप से है और पररूप से नहीं है, इसप्रकार देखना चाहिये।

तथा इसी कलश की टीका में श्री राजमलजी ने कहा है कि १२ अंग शास्त्र का ज्ञान कोई अपूर्व है, ऐसा कोई माने, सो वह विकल्पात्मक परलक्षी ज्ञान है। पर सत्तावलंबी ज्ञान मोक्षमार्ग नहीं है। भेदज्ञान द्वारा शुद्धात्मा का अनुभव होने पर सम्यग्दृष्टि को १२ अंग जानने का कोई प्रतिबंध नहीं है।

छट्ठी गाथा में शुद्धनय द्वारा अभेद आत्मा को अनादि-अनंत एकरूप ज्ञायकस्वभावरूप अनुभव करते हुए प्रमत्त-अप्रमत्त आदि किसी भेद विकल्प का उसमें अनुभव नहीं है। स्वसन्मुख हुआ सम्यग्ज्ञान व्यवहारनय से अनेक ज्ञेयों के जाननेरूप परिणमित है, तो भी ज्ञेयों के कारणपने की उसे अपेक्षा नहीं है। ज्ञानाकार अपने से ही है। पर पदार्थ, प्रकाश, इंद्रिय, शुभराग आदि पर की अपेक्षा से ज्ञान परिणमित नहीं होता। जिसप्रकार दीपक घट को प्रकाशित करने के समय भी दीपक ही है और अपने को प्रकाशित करने के समय भी दीपक ही है, उसे पर की अपेक्षा नहीं है। उसीप्रकार ज्ञायक अपनी शक्ति से अखंड पूर्ण है, निरपेक्ष है, उसका स्व सत्तावलंबी ज्ञान शुभाशुभ विकल्परूप नहीं हुआ। विकल्प के समय भी विकल्प की अपेक्षा से परिणमित हो, ऐसा नहीं है।

परंतु स्वयं ज्ञायक की एक ज्ञायकरूप से ही प्रसिद्धि करता है कि ज्ञायक सर्व अवस्था में एकरूप ज्ञायक ही है—यह निश्चय है, सत्यार्थ है, यथार्थ है, वास्तविक है, इसके सिवाय दूसरे की अपेक्षा बताना व्यवहार है, असत्यार्थ है, आरोप है।

व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का राग हेय है, और उसको जाननेरूप परिणमित ज्ञान, रागरूप से दिखाई नहीं देता, परंतु ज्ञायक को अखंड ज्ञायकपने से प्रसिद्ध करता हुआ प्रतीत होता है। सविकल्प काल में या स्वरूप प्रकाशकाल में, आत्मा ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह वही है अर्थात् अनादि-अनंत ध्रुव पारिणामिकभावपने से ज्ञायक ही है। यह सम्यग्दर्शन का विषय है, इसी के आश्रय से स्वानुभव और सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही चारित्र आता है, उसके बिना कुछ भी करे परन्तु उससे आत्मा का चारित्र कैसा? शुभरागरूप महाव्रतों से आत्मा में रमणता नहीं होती, परंतु शुद्धनय के विषयरूप

भूतार्थ के आश्रय से ही आत्मा में निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, रमणता का उपजना, बढ़ना, और टिकना होता है। ज्ञानी को स्वद्रव्य के अवलंबन के बल से छट्ठे-सातवें गुणस्थान के योग्य चारित्र हो तो उसकी पर्याय के योग्य उसे जानता है कि वह ज्ञेयपने से निमित्त है, श्रद्धा में हेय है। व्यवहार विकल्प को जानने की अपेक्षा से ज्ञान में तो ज्ञेयाकार पर्याय हुई, वह स्वावलंबीपने से ज्ञायक में अभेद होकर हुई है। इसलिए स्वभावदृष्टि से देखने पर ज्ञायक प्रत्येक समय ज्ञायक ही है। स्व-पर ज्ञेयों को जानने पर भी एक ज्ञानभाव में कर्ता-कर्म की अभेदता होने से, ज्ञेयकृत उपाधि ज्ञायक को लागू नहीं होती। ज्ञेय है, इसलिये ज्ञायक है, ऐसा नहीं है। ज्ञानी की निर्मलदशा हुई, उसमें किसी पर की अपेक्षा कारणरूप हो, ऐसा नहीं है। स्वयं ही जाननेवाला है, जाननेरूप परिणमनेवाला है, इसलिये स्वयं कर्ता है, और स्वयं को ही अभेद पर्यायरूप से जाना है, इसलिये स्वयं ही कर्म है।

अहो! श्री समयसारजी शास्त्र चौदह पूर्व बारह अंग का रहस्य भरकर वर्तमान में आया है, उसकी दैवी, अद्‌भुत टीका भरतक्षेत्र में **'न भूतो न भविष्यति'**। महाविदेहक्षेत्र में तो साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा विराजमान हैं, उनकी क्या बात? परंतु मुख्य-प्रधान ज्ञायकस्वरूप आत्मा को उसकी सर्व अवस्था में एकरूप से व्यापक और राग तथा पर से निरपेक्ष निराला आत्मा बतानेवाला यह अद्‌भुत शास्त्र है। किसी प्रकार केवली का विरह भुला दे, ऐसा परमागम शास्त्र है। अहो! तू कौन? तुझे शुद्ध जाना कैसे कहा जाये?

शुद्ध अर्थात् समस्त परभावों से भिन्न तथा जो रागादि विभावरूप नहीं हुआ है—ऐसा त्रैकालिक ध्रुवस्वभावरूप से यह आत्मा ज्ञायक है।—इसप्रकार स्वोन्मुख ज्ञान द्वारा सेवन किया जाने पर उसे शुद्ध जाना कहा जाता है। ज्ञायक स्वयं अपने को जानता है, वह निश्चय है और पर को जानता है, निमित्त को जानता है—ऐसा कहना सो व्यवहार—उपचार है। आत्मा अपने स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की स्वच्छता को जानता है, दर्शन-ज्ञानमय अपनी पर्याय को जानता है; पर को जानता है, वह कथन उपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय से है। राग को जानता ही नहीं है या शुभराग के कारण जानता है - ऐसा नहीं है। ज्ञान को निमित्त और राग की अपेक्षा नहीं है—ऐसा निरपेक्ष एकरूप शाश्वत ज्ञायकरूप से सेवन में-अनुभव में आता हुआ शुद्ध कहते हैं। भूमिकानुसार शुभाशुभभाव आते अवश्य हैं, परंतु जो उनरूप परिणमित हो, उसे ज्ञायक नहीं कहते।

स्वयं ज्ञेय-अखंड स्वज्ञेय है। विशेषरूप से कहा जाये तो अपने ज्ञान का विकास वह स्वज्ञेय है। परज्ञेय को पररूप जाना अर्थात् ऐसे अपने ज्ञान को जाना है, परंतु उसका यह तात्पर्य नहीं

है कि निमित्त या राग के अवलंबन से ज्ञान हुआ है। वास्तव में स्वोन्मुख हुआ ज्ञान, राग की ओर नहीं देखता; ज्ञान, ज्ञान को जानता है। राग बहिर्मुख है, उसकी ओर ज्ञान ने नहीं देखा है, किंतु सामने जो वस्तु है, उसके ज्ञेयाकाररूप ज्ञान हुआ है, वह उदाहरणमात्र है। हाँ, सामने जैसा ज्ञेय है, वैसा ज्ञानाकार में ज्ञात होता है; इसलिये ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान हुआ है, किंतु ज्ञान परसत्तावलंबी नहीं है, ज्ञान तो निरंतर स्वसत्तावलंबी है।

अकेले ज्ञायक को देखने पर स्वयं ज्ञायक ही है। ज्ञेयाकार समान ज्ञान नहीं है किंतु ज्ञायक समान ज्ञान है। व्यवहार श्रद्धा, ज्ञान और महाव्रतादिक राग हैं, इसलिये उनरूप ज्ञायकभाव परिणमित हुआ है, ऐसा नहीं है, किंतु व्यवहार, व्यवहाररूप से है। ज्ञेयाकार ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वहाँ ज्ञान का विकास ही जाननेरूप कार्य करता है, उसमें व्यवहार ज्ञान की अपेक्षा नहीं आती। अनंत गुणों का अखंड पिण्ड ऐसा भगवान अर्थात् सहजज्ञानवान् आत्मा अपने को (ज्ञान को) अंतर के स्वावलंबी ज्ञान से जानता है। पर को जानता है, पर का त्याग करता है, वह कथनमात्र है। ज्ञेयों से ज्ञान नहीं है, ज्ञेयों ज्ञात होते हैं, ऐसा नहीं है, किंतु ज्ञान की योग्यतानुसार स्व-ज्ञानाकार ज्ञात होता है। शुभराग भी आस्रव है, अजाग्रत भाव है, ज्ञान से विरुद्ध है। राग में ज्ञान का किंचित् अंश नहीं है; इसलिये वह अचेतन है। व्यवहार को जाने उतना ज्ञान व्यवहार ज्ञेय की अपेक्षा से प्रकाशित होता है, ऐसा नहीं है। रागादि-व्यवहार ज्ञेय हैं; इसलिये ज्ञायक को उनकी अपेक्षा है, ऐसा नहीं है। इसप्रकार निरपेक्ष ज्ञायक की दृष्टि हुई, त्रिकाल ऐसा ही हूँ—ऐसी प्रतीति हुई, उसे मोक्ष हो गया है। द्रव्य की प्रत्येक पर्याय में जिसे मुक्ति का स्पर्शन, संवेदन प्रारंभ हो गया है, वह ज्ञानी है। अहो! आचार्यदेव.. परमतत्त्व ज्ञायकस्वभाव से अनुभवन करने की अपूर्व दृष्टि देते हैं। जिसप्रकार दीपक घटपट को प्रकाशित करता है। उस काल वह घटपटादि की अपेक्षा से प्रकाशमान होता है, ऐसा नहीं है; उसीप्रकार रागादि ज्ञेय हैं, इसलिये ज्ञायक को उनकी अपेक्षा है—ऐसा नहीं है। घटपट को प्रकाशित करने के काल में दीपक, दीपक ही है। दीपक स्वयं प्रकाशित है और अपनी प्रकाशमय ज्योति शिखा के प्रकाशन काल में भी दीपक ही है।—ऐसा ही ज्ञायक के संबंध में जानना।

ज्ञायक शुभाशुभ को जानता है, वहाँ तो ज्ञान की स्वच्छता को जानते हुए परज्ञेय ज्ञात होते हैं, इसलिये ज्ञायक रागादिरूप परिणमित हुआ है, ऐसा नहीं है। ज्ञायक वस्तु, रागादि के अकारकरूप से ज्ञातारूप ही रहती है, वस्तु ज्ञायक ही है, कभी भी वह रागरूप नहीं हो जाती।

प्रश्नः—प्रगट पर्याय में शुभाशुभराग—अजागृतभाव, ज्ञेयरूप से ज्ञात होता है, इसलिये

ज्ञायक वर्तमान दशा पर्यंत उसरूप होता है या नहीं ?—नहीं; राग को जानते हुए स्वयं को-सहज ज्ञान को ही जानता है; अपनी ज्ञायकता ही ज्ञात होती है। **अहा! ऐसा स्वोन्मुख ज्ञायकभाव, सो मैं हूँ; इसप्रकार स्वयं अनुभव करे, तब सम्यग्दर्शन होता है।** स्वसंवेदन ज्ञानयुक्त होने के पश्चात् ही चारित्र की गिनती होती है; एक रहित शून्यों की गिनती क्या? सहज ज्ञान में—स्वसत्ता में प्रकाशपुंज हूँ, उसमें पराश्रय के भेदरहित एकत्व की दृष्टि के पश्चात् व्यवहार ज्ञान सच्चा हुआ और उसे निमित्तरूप से विभाव-व्यवहाररत्नत्रय की वृत्ति उठती है, किंतु उसरूप ज्ञान है ही नहीं। राग से भिन्न, सर्व निमित्तों की अपेक्षारूप पराश्रय के भेद से मुक्त अर्थात् पृथक् हूँ—इसप्रकार ज्ञान, ज्ञान को जानता है।

प्रश्नः—इंद्रियाँ तथा रागादि निमित्त हैं तो उनका ज्ञान तो किया या नहीं ?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि उन्हें जानने की अपेक्षा ज्ञायक में नहीं है; ऐसा निरपेक्ष अर्थात् सहज ज्ञानस्वभावी ज्ञानमय कर्ता-कर्म से अभेद, अकेले ज्ञायक का अनुभव, सो सम्यग्दर्शन है। यहाँ पर्यायभेद की बात गौण हो जाती है। हेय तत्त्व को हेय करना नहीं पड़ता किंतु स्वोन्मुखतानुसार हेय होता ही जाता है। ध्रुव ज्ञायकरूप से जागृत हुआ, वहाँ ज्ञान ही ऐसा जानता है कि—शरीर, शास्त्र, वाणी तथा विकल्प से जानने की अपेक्षा रखे, ऐसा ज्ञायक नहीं है।

प्रश्नः—तीर्थंकर भगवान की सभा में गणधरदेव सदा उपस्थित होते हैं, तो वे श्रवण करते हैं या नहीं ?

उत्तरः—नहीं; वे अपने ज्ञान को ही जानते हैं; वहाँ राग की, वाणी की अपेक्षा युक्त ज्ञान है—ऐसा नहीं है। पाँचवीं गाथा में जिसका कथन किया है, उस एकत्व-विभक्त आत्मा को यहाँ निरपेक्ष अकेला ज्ञायकमात्र कहा है। उन सर्व अवस्थाओं में अखंड ज्ञायकस्वभाव है-ऐसी ध्वनि उठती है। यह तो महान रचना है, मूल मंत्र है। सर्वज्ञ परमात्मा के पड़ोसी आचार्यदेव, चारित्र में—अनुभव में आकर परमपारिणामिकभावरूप ज्ञायकस्वभाव की बात करते हैं। स्वाश्रय की दृष्टि करके स्वयं सिद्ध आत्मद्रव्य का ज्ञायक स्वभावरूप से अनुभव करते हैं कि पर से भिन्न ऐसा निरपेक्ष ज्ञायकभाव कर्ता-कर्म के भेद से रहित है। पर से भिन्न अर्थात् पर से निरपेक्ष ज्ञायकरूप से ज्ञायक का अपना अनुभव होने से शुद्ध कहिये।

यहाँ शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को परमपारिणामिकभाव से ज्ञायक कहना है, उसमें कर्म के उदयादि की अपेक्षा रखकर ज्ञायक परिणमित होता है—ऐसा नहीं है। उसमें यह भी आ गया

कि-अंत:तत्त्व ज्ञायक प्रभु अखंडानंद वस्तुस्वभाव तो त्रिकाल कषायचक्ररूप होता ही नहीं, इसलिये पुण्य-पापमय औदयिकभाव उसमें नहीं है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव अनित्य पर्याय है, वह तो बाहरी भाग है, वह व्यवहारनय का विषय है अवश्य, किंतु वह अंतरंग ज्ञायकस्वरूप में नहीं है। प्रगटदशा में जो कुछ ऊपर तैरते हुए विकारभाव दिखायी देते हैं, किंतु उनरूप ज्ञायकभाव परिणमित नहीं होता।

चौथे गुणस्थान से ही स्वसत्तावलंबी दृष्टि द्वारा ज्ञानी जानता है कि ज्ञायकस्वरूप ऐसा स्वतंत्र है। उसके परिणमन में स्वसन्मुख ज्ञानधारा बढ़ती जाती है; ज्ञायक के परिणमन में औदयिकादि भेदों की अपेक्षा नहीं है। ज्ञायक तो शुद्ध ज्ञायक ही है। ऐसा स्वोन्मुख हुआ स्वावलंबी ज्ञान अभेद ज्ञायकरूप से परिणमित हो, उसे शुद्ध कहते हैं। (१) ज्ञायक कभी अज्ञायक-अचेतन अर्थात् आस्रवतत्त्वरूप नहीं होता। (२) प्रगट पर्याय में भी अभेद ज्ञान ज्ञानरूप ही है; ज्ञेयों की उपाधि-अपेक्षा उसे नहीं है। (३) अंतर्मुखरूप से अर्थात् पर से भिन्न निरपेक्षरूप से सेवन किये जानेवाले ज्ञायक को मात्र शुद्ध कहते हैं। जो निमित्त और राग की अपेक्षा के बिना एकाकी परिणमित हो, उसे आत्मा का ज्ञान कहते हैं। कोई ग्यारह अंग का पाठी हो तो उसने आत्मा को जान लिया, ऐसा नहीं है। जिसने आत्मा को पर से भिन्न निरपेक्ष ज्ञायकरूप से नहीं जाना, उसने स्व-पर, सापेक्ष-निरपेक्ष, निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, हेय-उपादेय आदि कुछ नहीं जाना है। पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर स्वोन्मुख होकर 'अखंड ज्ञायकरूप होनेवाला ज्ञायक हूँ'—इसप्रकार ज्ञाता को जाना, उसने सब कुछ जान लिया... केवलज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु का-पेट (-रहस्य) जाना, केवलज्ञान प्राप्त करने की कला उसे आ गई। अत: उसने ज्ञानी का हार्द समझ लिया। ज्ञायक स्वसत्ता में स्वावलंबी दृष्टि और स्वसंवेदन ज्ञानदशा प्रगट की, वही केवलज्ञान प्राप्त करने की सच्ची कला है।

शिष्य के प्रश्नानुसार ५ वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा था कि—**'ऐसे एकत्वविभक्त आतमा को' मैं आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुए निज वैभव के द्वारा बतलाता हूँ। मैं बतलाऊँ उसीप्रकार स्वानुभव प्रमाणपूर्वक स्वीकार करना;—इसप्रकार नि:संदेह सत्य उपाय बतलानेवाले तथा समझनेवाले की बात है। टीका में कहा कि (१) सर्वज्ञकथित आगमज्ञानरूपी प्रमाण, (२) अति निष्तुष निर्बाध युक्तिरूप प्रमाण तथा (३) श्री महावीर प्रभु की परम्परा से चले आ रहे हमारे गुरुपर्यन्त, उनके द्वारा प्रसादरूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का**

अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वोचार्यों के अनुसार उपदेश, उसे प्रमाण करके और (४) स्वानुभवप्रमाण, उसके द्वारा हमने शुद्धात्मा की प्राप्ति की है, (-किंतु कर्म प्रकृति के ग्रंथ कहाँ पढ़े?) स्वाश्रय द्वारा मुख्य वस्तु की दृष्टि द्वारा अकेले ज्ञायक को पर से भिन्नरूप जानकर सबकुछ जान लिया है। अंतर का विकास तो अंतर्मुखदृष्टि, ज्ञान तथा एकाग्रता से ही होता है। ऐसे निरपेक्ष तत्त्व है, उसका सर्व प्रथम स्वीकार करके आश्रय करना चाहिये। निमित्तरूप से व्यवहार के भेद जानने के लिये व्यवहार बराबर है, किंतु सर्व भेदों को गौण करनेवाले शुद्धनय द्वारा स्वोन्मुख होकर, मैं अभेद ज्ञायक हूँ, उसकी निर्विकल्प अनुभवसहित प्रतीति होना, सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बीज है, आत्मा एकांत बोधिबीज ज्ञायकस्वरूप है; उस बीज में से उछलकर ज्ञान हुआ, वह आत्मा की अनुभूति है, जो शुद्धनयस्वरूप है; उसका विषय शुद्धात्मा त्रिकाल एकरूप पूर्ण है। प्रथम महा प्रश्न था कि—प्रभु! ऐसा शुद्धात्मा कौन है कि जिसका स्वरूप जानना चाहिये?—इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप छठवीं गाथा में—केवलज्ञानी तथा निर्ग्रंथ संतों को क्या कहना है, वह स्पष्ट करके अद्भुत बात कही है।

भावार्थः—वस्तुरूप से देखने पर, आत्मा बंधन को—अशुद्धतारूप संसार को स्पर्श नहीं करता; विभावरूप से परिणमित नहीं हुआ है; किंतु वर्तमान पर्याय में अशुद्धता तो अपने को भूलकर पराश्रय से उत्पन्न की जाती है। आत्मा का मूल स्वरूप कदापि अशुद्ध नहीं हो सकता। ध्रुव-स्वभाव के संग से अशुद्धता उत्पन्न नहीं होती। शुभाशुभ राग, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग, शास्त्रों की ओर का झुकाव तथा महाव्रतादि भी शुभास्रव हैं, राग हैं; परद्रव्योन्मुख जितनी वृत्ति उठती है, वह सब अशुद्धता है; वहाँ मूल द्रव्य अन्य द्रव्यरूप-अशुद्धरूप कभी नहीं होता। त्रैकालिक अंशी वस्तु को भूलकर मात्र एक समय की पर्याय में स्वयं भूल उत्पन्न करे तो होती है। कर्म का संग किया, इसलिये अशुद्धता होती है; उस बंधपर्यायरूप व्यवहार का आश्रय अनादि से करता ही आया है, इसलिये जीव संसार में अकेला ही दुःख भोग रहा है। अब वहाँ से छूटने के लिये, नवतत्त्वों के भेद को गौण करके, शुद्धनय द्वारा, शुद्ध ज्ञायक का आश्रय-अनुभव करे तो सम्यग्दर्शन होता है। **द्रव्यदृष्टि में अशुद्धता गौण है, अभूतार्थ है, उपचार है; इसलिये आत्मा द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है, अभेद है, भूतार्थ है, निश्चय है, परमार्थ है, इसलिये ज्ञायक वह ज्ञायक ही है।**

(१) अशुद्धता तो परद्रव्य के संग से पर्याय में होती है।

(२) द्रव्यदृष्टि से देखो तो मूलद्रव्य रागादिरूप—देहादिरूप नहीं होता। भेद को गौण करके शुद्धनय से देखो तो सर्व अवस्था में आत्मा पर से भिन्न, राग से भिन्न निरपेक्ष ज्ञायकरूप ही है।

(३) इसप्रकार समस्त अन्य भावों, अनात्मभावों (आस्रवभावों) से भिन्नरूप स्वोन्मुखता से सेवन (उपासना) किये जाने पर आत्मा को शुद्ध कहा जाता है। पर से निरपेक्ष ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह तो वही है। सर्व अवस्थाओं में अन्य से पृथक् तथा ज्ञानस्वभाव में सदैव एकरूप ज्ञायक ही मैं हूँ-अन्य कोई नहीं है। निश्चय में पर को जानना नहीं है।

—इसप्रकार स्वसन्मुखरूप से अपने को अपना अभेद अनुभव हुआ, तब जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और स्वयं को जानता है, ऐसा स्पष्ट भावभासन हुआ। ज्ञान होने के कारण में रागादि निमित्त नहीं हैं, अर्थात् रागादि कारण हों और उनके आश्रय से ज्ञानरूपी कार्य हो, ऐसा नहीं होता तथा ज्ञायक, राग का कर्ता हो, ऐसा भी नहीं होता। ज्ञायक, शुभ व्यवहार का कर्ता, भोक्ता, स्वामी नहीं है; किंतु वर्तमान पर्याय में राग है, व्यवहार है; इसलिये ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। किंचित् शुभराग की या निमित्त की अपेक्षा से ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। पर से निरपेक्ष, स्व से सापेक्ष, अभेद ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप से जानने की क्रिया का कर्ता सर्व अवस्थाओं में ज्ञायक स्वयं ही है, उसमें भेद नहीं है; इसलिये प्रमत्त-अप्रमत्त, सकषाय-अकषाय, अवेदी-सवेदी आत्मा नहीं है किंतु त्रिकाल ज्ञायक है। ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा से ज्ञायक नाम दिया जाता है, तथापि ज्ञेयों के कारण ज्ञायक ज्ञानरूप परिणमित होता हो, ऐसा नहीं है; क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित होता है, उसमें निश्चय से स्वज्ञानाकाररूप ज्ञान ही ज्ञान में परिणमित हुआ है।—इसप्रकार सर्व अवस्थाओं में राग और पर की अपेक्षा रहित, अकेला मैं ज्ञायक ही हूँ—ऐसा अनुभव करने पर आत्मा सदा ज्ञायक है, वह स्पष्ट भासित होता है। **'यह जो ज्ञाता है, सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं है।'**—ऐसा अपने को अपना स्वोन्मुख रूप से अभेद अनुभव हुआ, तब जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसने जाना वह कर्म (ज्ञान की क्रियारूप कार्य) भी स्वयं ही है। **ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र विज्ञानघन स्वयं शुद्ध है**—ऐसा आत्मा शुद्धनय का तथा निर्विकल्प सम्यग्दर्शन का विषय है, ध्येयरूप है। उसका आश्रय करने से ही धर्म अर्थात् सुख का प्रारम्भ होता है। इसप्रकार प्रथम से ही स्वसत्तावलंबीपना से धर्म की (-सत्य सुख के उपाय की) शुरुआत होती है।

मोक्षमार्ग की सम्यक् व्यवस्था और अनेकांत की स्पष्टता

(श्री 'प्रवचनसार' पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)

[भाद्रपद शुक्ला १०, तारीख ११-९-६२]

प्रवचनसार गाथा २३५ में कहा है कि—आगम ज्ञाता को कुछ भी गुप्त नहीं, अनजान नहीं है। अब, ऐसा नियम सिद्ध करते हैं कि—आगम में क्या कहा है, उसका यथार्थ ज्ञान स्वोन्मुखता से ही होता है; इसलिये आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और उन दोनों सहित संयतपना—इन तीनों का साथ होना ही मोक्षमार्ग है।—

आगमपूर्वादृष्टिर्न भवति यस्येह संयमस्तस्य।
नास्तीति भणति सूत्रमसंयतो भवति कथं श्रमणः ॥२३६॥

टीका—इसलोक में स्यात्कार जिसका चिह्न है, ऐसे आगमज्ञानसहित तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन से जो रहित है, उन सबको प्रथम तो संयमभाव ही सिद्ध नहीं होता। स्यात्कार अर्थात् वस्तु में विद्यमान प्रत्येक अंश को, जो अंश जिसरूप है, वह उसीरूप से है; पररूप नहीं है, पर से नहीं है—इसप्रकार अस्ति-नास्ति द्वारा वस्तु में वस्तुत्व का निश्चय कराये, ऐसी सम्यक् अपेक्षा से कथनपद्धति, सो स्याद्वाद है।

आत्मा है ?—तो कहते हैं कि—हाँ, अपने से है, पर से नहीं है। अपना द्रव्यस्वभाव-गुणस्वभाव-पर्यायस्वभाव स्व से सत् है, पर से नहीं है; पर से असत्रूप है। त्रैकालिक सामान्य स्वभाव, स्वभाव से सत् है; विभाव से नहीं है। स्वभावाश्रित होनेवाली संवर-निर्जरारूप शुद्ध परिणति स्व से है, शुभराग से नहीं है। निमित्त है, इसलिये साधकदशा है, ऐसा नहीं है। भगवान का समवसरण हो, दिव्यध्वनि सुनने को मिले तो इस आत्मा को सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं है। वस्तु द्रव्य अपेक्षा से नित्य ही है, अनित्य नहीं है; शुद्ध ही है, अशुद्ध नहीं है, किंतु संसारदशा में जब तक शुभाशुभभाव है, तब तक भूमिकानुसार जो अशुद्धता है, वह मात्र पर्याय अपेक्षा से है। जिस गुणस्थान में जितने अंश में अशुद्धता है, वह निश्चय से अशुद्धता ही है, उसमें शुद्धता नहीं है;

उसके आधार से भी शुद्धता नहीं है। आत्मा अनित्य है ?—हाँ, अवस्था पलटने की अपेक्षा से अनित्य ही है, नित्य नहीं है। इसप्रकार एक ही समय में एकसाथ एक आत्मा को नित्यता, अनित्यता, शुद्धता, अशुद्धता होने में विरोध नहीं है। अपूर्ण वीतरागता होती है, वहाँ शुभराग होता है, किंतु वह आत्महित के लिये हितकर हो, ऐसा कभी नहीं होता।

मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव स्वाश्रयरूप है; रागरूप पराश्रयरूप नहीं है। शुभराग के कारण वीतरागता टिकती है और उसमें वृद्धि होती है, ऐसा नहीं है। असद्भूतव्यवहारनय का विषय शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय तो पराश्रित है, उसके द्वारा स्वाश्रयीभाव (मोक्षमार्ग) हो—ऐसा कदापि नहीं होता। साधकदशा में अंशतः राग तथा अंशतः वीतरागभाव होता है; किंतु राग के कारण वीतरागता माने, उसे आत्मज्ञान नहीं है। सम्यग्दृष्टि की भूमिका का शुभराग वास्तव में संवर-निर्जरारूप शुद्धि का कार्य करता है, ऐसा मानना मिथ्या मान्यता है। श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने प्रवचनसार में छठवें गुणस्थान के शुभराग को (अट्ठाईस मूलगुण आदि शुभभावों को) प्रमादरूपी चोरी—आत्मजागृति का लुटेरा कहा है; उसे वास्तव में कोई आत्महित में सहायक माने तो उसे आगमज्ञान नहीं है। आगम प्रत्येक वस्तु को, नव तत्त्वों को, स्वभाव तथा विभाव को ज्यों का त्यों अस्ति-नास्ति से सिद्ध बतलाता है। जिसे ऐसा विभाग ज्ञान नहीं है, वह चाहे जैसा त्यागी-मुनि हो, तथापि उसे प्रथम तो संयम ही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उसको स्व-पर के विभाग का अभाव है। हित-अहित किसप्रकार है तथा कारण-कार्य की स्वतंत्रता जो अस्ति-नास्ति के ज्ञान से सिद्ध है, उसकी उसे खबर नहीं है।

शरीर की क्रिया, उसका पर्याय स्वभाव उसी के कारण होता है, अन्य तो निमित्तमात्र है—ऐसा न मानकर जो यह मानता है कि—वे मुझसे हैं और मेरे द्वारा जड़ शरीरादि के कार्य होते हैं, वह जीव-अजीव को एक मानता है, किसी को स्वतंत्र नहीं मानता। सबके द्रव्य-गुण-पर्याय स्व से सत् हैं और पर से असत् हैं—ऐसा ही त्रिकाल पदार्थ का स्वरूप है; उसे जो नहीं मानता, वह जिसप्रकार अन्यमती ईश्वर आदि को निमित्तकर्ता मानता है, उसीप्रकार यह जैन साधु नाम धारण करके शरीरादि के कार्य मेरे कारण होते हैं, शरीर से तप, त्याग, संयमरूपी आत्मा का धर्म होता है, दया का पालन होता है,—इसप्रकार पर में तथा पर से अपना कार्य होना मानता है, इसलिये उसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है। पर में और पर के साथ कर्तृत्व का संबंध माननेवाले को विवेक-ज्ञान नहीं है, इसलिये वह पर से लाभ-हानि मानता है।

शुभराग ज्ञानी को भी होता है, वह मंद कषाय है। अज्ञानी उसमें प्रीतिवंत होने से शरीर और कषाय (रागादि) को आत्मा से भिन्नरूप मानता ही नहीं, किंतु एक मानता है। ज्ञानी तो स्पष्टरूप से भिन्न ही मानता है।

मुख्य तत्त्व दो हैं—ज्ञायकभाव, सो जीव और जो किंचित् नहीं जानता, वह अजीव। शरीर मूर्तिक अजीव है और शुभाशुभराग जो जीवकृत अपराध है, चेतन की जागृति को रोकनेवाला है, अजागृत अजीवभाव-मलिनभाव है, आस्रवतत्त्व है; इसलिये ज्ञानी उसे पहले से ही अहितकर और हेय मानता है। अज्ञानी उसे भला मानता है, करने योग्य मानता है। इसलिये अपने साथ एकमेक करता है। शरीर की क्रिया और राग की क्रिया से आत्मा को लाभ मानता है, मैं उसका ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ, ऐसा मानता है; इसलिये उसे जीव-अजीवतत्त्वों की पृथक्ता भासित नहीं हुई है। अतः उसे आत्मा-आस्रवों का भावभासनरूप भेदज्ञान नहीं है।

जीव शरीर से पृथक् हो जाये तो मैं पृथक् मानूँ। यदि आत्मा वर्तमान में भी शरीर से भिन्नरूप हो तो मुर्दा क्यों नहीं चलता? शरीर में रोग आने पर आत्मा को दुःख क्यों होता है?—ऐसा माननेवाले शरीर और आत्मा को एक ही मानते हैं। जीव के आधार से शरीर नहीं है, शरीर के कारण दुःख नहीं है, किंतु शरीर के प्रति जो ममत्व है, वही दुःख है और जितने प्रमाण में ममत्व है, उतने प्रमाण में दुःख होता है। 'शरीर निरोगी रहे तो सुख हो, शरीर ही प्रथम धर्म का साधन है'—यह कथन लोक पद्धति से है, वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

प्रश्नः—मनुष्य शरीर, वज्रकाय शरीर मोक्ष का कारण है या नहीं?

उत्तरः—निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराने के लिये यह कथन है। कार्य के बिना निमित्त किसका? निमित्त से किसी का कार्य नहीं होता किंतु 'उपादान (निजशक्ति) निश्चय जहाँ तहँ निमित्त पर होय'—इतना बतलाने के लिये (तथा उसका आश्रय छोड़कर अकेले आत्मा का आश्रय करने के लिये) व्यवहार कथन की यह रीति है।

श्री टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि—व्यवहारनय अभूतार्थ कथन करता है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्यरूप तथा उसके भावों को और कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; इसलिये व्यवहार के कथन को निश्चय अर्थ में मानने की श्रद्धा छोड़ दे—ऐसा श्री टोडरमलजी ने ही नहीं कहा है, किंतु परमात्मप्रकाश ग्रंथ की टीका, पुरुषार्थसिद्धयुपाय तथा श्री समयसारजी गाथा ११ में भी आता है कि—

— व्यवहार अभूतार्थदर्शित, शुद्धनय अभूतार्थ है;

— भूतार्थ आश्रित जीव निश्चय ही सुदृष्टि होता है।

स्वभाव-विभाव और स्व-पर का विभाग ज्ञान न होने से अज्ञानी जीव, काय और कषायरूप ही अपने को मानता है। ज्ञानी को भी दया, हिंसा, व्रत, अव्रत, पूजा, भक्ति के विकल्प आते हैं किंतु उनसे वे परमार्थतः लाभ नहीं मानते; और राग की रुचिवाले अज्ञानी राग की क्रिया को लाभदायक मानते हैं। इसलिये उनकी श्रद्धा में जीव और आस्रवतत्त्व भिन्न नहीं रहते।

आगम कहता है कि—जीव से अजीव नहीं है और अजीव से तथा आस्रव से जीव नहीं है। **आस्रव तो बंध का कारण है, इसलिये आस्रव से संवर-निर्जरा तीन काल में नहीं होती।—इसप्रकार एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अभाव है—ऐसा जो जाने वह सम्यग्ज्ञानी है।** अब से डेढ़ सौ वर्ष पहले श्री दीपचंदजी साधर्मी कह गये हैं कि—सर्वज्ञकथित शास्त्रानुसार आजकल कोई मानता नहीं है; मुँह से कहा हुआ नहीं मानते, इसलिये मैं तो सत्य बात लिखे जाता हूँ। यह कथन हठाग्रही के लिये नहीं है। 'अध्यात्मपंच संग्रह' में वे लिखते हैं कि—शुभराग से आगे चलकर धर्म का लाभ होगा—ऐसा जो मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं।

ज्ञानी के व्रतादि शुभराग को परम्परा मोक्षहेतु कहा हो, वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि—इसप्रकार के शुभराग का अभाव करके मोक्ष जायेगा। व्रतादि शुभराग से मोक्षमार्ग का लाभ माननेवाले राग को करनेयोग्य मानते हैं, कषाय से लाभ मानते हैं। शुभराग से लाभ माना, वहाँ उसे आस्रव-बंधभाव का आदर और आत्मभाव का तिरस्कार वर्तता ही है।

जड़कर्म के उदय से राग होता है और शुभराग से धर्म होता है—ऐसा माननेवाले ने जड़कर्म से धर्म का होना माना है। स्व-पर के विभाग का उसके अभाव है।

ज्ञानी को शुभराग आता है किंतु अंदर से उसे किंचित् हितकारी नहीं मानते, क्योंकि बहिर्मुखवृत्ति कभी अंतर्मुखस्वभाव को सहायता नहीं कर सकती। ऐसा सत्य सुनने पर भी जो ऐसा मानता है कि—नहीं, धर्म के लिये किया गया शुभभाव धर्म का कारण है, शुभराग करते-करते अंतर्मुख होने में सहायक होता है, पर का कार्य किया जा सकता है;—ऐसी मान्यतावाले को स्व-पर के विभाग का तो अभाव है ही, किंतु तीव्र मिथ्यात्व का जोर भी है।

शरीर की क्रिया मुझसे हो सकती है, शुभराग से धर्म होता है—ऐसा माननेवाले को विषयों का किंचित् निरोध नहीं है। विषयों की अभिलाषा किंचित् दूर नहीं हुई है—ऐसा सर्वज्ञ भगवान के आगम में कहा है। बाह्य में भले ही धर्म के नाम पर त्यागी बन जाये, ब्रह्मचर्य का पालन करे, क्रोध

न करे, अतिचाररहित शुद्ध अर्थात् ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करे, तथापि राग से लाभ मानता है तो उसे आत्मा में किंचित् संयतपना नहीं है और उसे मोक्षमार्ग में नहीं माना है। जिसके फलस्वरूप नववें ग्रैवेयक तक जाये, ऐसे शुभराग का (व्यवहार का) पालन करे, तथापि गहराई में-अंतर में उससे लाभ माने तो उसके विषयों की अभिलाषा विद्यमान है। **निर्मल विज्ञानघन द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही लाभ है—ऐसा न मानकर जिसने मंदकषाय-शुभराग से लाभ माना, उसे राग की भावना है। मंदराग से किंचित् लाभ तो होता है न ? उससे कहते हैं कि तेरी दृष्टि और ध्येय रागादि आस्रवतत्त्व है, जो कि बंध का कारण है। जिस भाव से नवीन बंध हो, उस भाव से किसी को, किसी काल, किसीप्रकार धर्म नहीं होता—ऐसा अनेकांत वीतराग के मार्ग में है—ऐसा आगम में कहा है। आत्महित के लिये इस बात का निर्धार करे, तभी स्वसन्मुख होने की, निर्मल श्रद्धा-ज्ञान तथा अनुभव करने की शक्ति आत्मा में प्रगट हो सकती है। प्रथम से ही सत्य का स्वीकार करने की बात है।**

मोक्ष के मंडप में अपूर्व मंगलाचरण

हे सिद्ध भगवंतों! मेरे चैतन्य-प्रांगण में पधारो!

वैसाख शुक्ला सप्तमी के दिन पूज्य स्वामीजी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर जोरावरनगर (सौराष्ट्र) पधारे थे। भव्य स्वागत के पश्चात् महोत्सव के मंडप में सिद्ध भगवंतों का स्मरण करते हुए मंगलाचरण के रूप में पूज्य स्वामीजी ने कहा था:—

कुन्दकुन्दाचार्यदेव, सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि के साररूप समयसार में मंगलाचरण करते हुए कहते हैं कि—अनंत सिद्ध भगवंतों को नमस्कार। 'वंदित्तु सव्व सिद्धे...' अर्थात् मैं अपने श्रोता के ज्ञान में सिद्ध भगवंतों का आदर-सत्कार करके उनका पदार्पण करता हूँ। अर्थात् मैं अपने ज्ञान को शुद्धात्मा की ओर उन्मुख करके परभाव का आदर छोड़ता हूँ। अशरीरी चैतन्य परमात्मा ऐसे सिद्ध भगवंत जो जन्म-मरणरहित अमृतपद को प्राप्त हुए हैं, उन्हें मैं अपने निर्मल ज्ञान आँगन में स्थापित करता हूँ और हे श्रोताजनों! तुम भी अपने ज्ञान में अमृत से भरपूर अशरीरी

सिद्धपद की स्थापना करो अर्थात् उसका ज्ञान में आदर करो और उसके अतिरिक्त अन्य भावों का आदर छोड़ दो। सिद्धपद को साधने में मंगलमंडप में सिद्धों का स्मरण करके अपने और तुम्हारे ज्ञान में मैं सिद्ध भगवंतों की स्थापना करता हूँ। इसप्रकार सिद्ध भगवंतों को स्थापित करके मोक्षमंडप में सर्वप्रथम उत्कृष्ट मंगल के रत्नस्तंभ का आरोपण किया है।

मंगल अर्थात् जिससे सुख मिले और दु:ख दूर हो। जिस पवित्र भाव से अंतर में आत्मा के आनंद की भनक उठे, ऐसा भाव सो मंगल है, अर्थात् सम्यग्दर्शनादि भाव वह मंगल है। अनंत सिद्ध भगवंतों को अपने श्रद्धा-ज्ञान में स्थापित किया, वह मंगल हुआ। समयसार के प्रारम्भ में ही ऐसा अप्रतिहत मंगलाचरण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि अरे चैतन्य! जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही तेरा आत्मा है, सिद्धपद की समृद्धि तेरे अंतर में भरी है, अनंत ज्ञान-आनंद के निधान तुझमें भरे पड़े हैं, किंतु पर के अहंकार की ओट में तुझे वे दृष्टिगोचर नहीं होते... एक बार सिद्ध भगवान को अपने आत्मा में उतारकर अंतर में दृष्टि कर कि जैसे सिद्ध वैसा मैं। मेरे और तेरे आत्मा में मैं अनंत सिद्धों का पदार्पण कराता हूँ कि—प्रभो! मेरे आँगन में पधारो! विभाव का आदर छोड़कर तथा स्वभाव का सत्कार करके मैं अपने सिद्धपद की साधना करने चला हूँ... यह मेरी मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर का मंडप है... इसमें मैं अनंत सिद्धों को आमंत्रित करता हूँ। जिसप्रकार विवाह के अवसर पर बारात में बड़े-बड़े सेठों को साथ रखते हैं, ताकि बारात कन्या को ब्याहे बिना वापिस न लौटे; उसीप्रकार यहाँ सेठ अर्थात् जगत में श्रेष्ठ ऐसे सिद्ध भगवंतों को साथ रखकर मैं मोक्षलक्ष्मी को ब्याहने चला हूँ... अपने ज्ञान में अनंत सिद्धों को स्थापित कर लिया है... अब मेरी मोक्षदशा नहीं लौट सकती।—इसप्रकार मोक्ष के मंडप में मंगलाचरण किया।

सिंह जागा और हिरन भाग,
आत्मा जागा और कर्म भागे

जिसप्रकार सिंह के जागते ही हिरन भागते हैं... उसीप्रकार निर्विकल्प अनुभूति करता हुआ चैतन्य सिंह जागृत हुआ, वहाँ आठों कर्म भाग जाते हैं।

वस्तुस्वभाव की श्रद्धा और वीतराग-विज्ञानतारूप

उत्तम क्षमादि दसलक्षण पर्व

(दूसरा दिन; तारीख ५-९-६२ भाद्रपद शुक्ला ६)

सर्वज्ञ भगवान ने निश्चय सम्यग्दर्शन, स्वानुभूतिसहित स्वरूप में लीनता को चारित्र कहा है; उसमें मुख्यतः मुनियों के वीतरागभाव के भेदरूप से उत्तमक्षमादि दस धर्म माने जाते हैं।

मैं पर का कुछ कर सकता हूँ; शुभभाव का स्वामित्व, रागादि परभावों में कर्तृत्व की रुचि और ज्ञातास्वभाव की अरुचि का नाम अनंतानुबंधी क्रोध है। भेदज्ञान द्वारा सर्व विभावों से भिन्न स्वसन्मुख ज्ञातापने में सावधान होने से मिथ्यात्व, रागादि तथा क्रोधादि की उत्पत्ति न होना, उसका नाम उत्तम क्षमाधर्म है; उसका प्रारम्भ मनुष्य, तिर्यंच, देव या नारकी किसी भी शरीर या गति में हो सकता है।

भेदज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूप को जानता है, वह किसी ज्ञेय को इष्ट-अनिष्टरूप से नहीं देखता। क्रोध का निमित्त आने पर ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि—यदि कोई मेरे दोष बतलाता है और वे मुझमें विद्यमान हैं तो वह क्या बुरा कहता है ? और यदि मुझमें दोष नहीं है तो वह बिना जाने अपना अज्ञान प्रगट करता है। अज्ञानी मनुष्य पर क्रोध क्यों करूँ ?—ऐसा विचार करके क्षमा करना चाहिये। अज्ञान और क्रोध तो मात्र एकसमय की पर्याय है और आत्मा तो निश्चय से वर्तमान में भी सिद्ध भगवान समान शुद्ध है। पुनश्च, अज्ञानी क्लेश प्रकृतिवान हो तो उसके बालस्वभाव को जान लेना चाहिये कि—बालक तो प्रत्यक्ष भी कहता है और यह तो परोक्ष ही निंदा आदि करता है; कभी प्रत्यक्ष कुवचन कहे तो विचारना चाहिये कि बालक तो लकड़ी भी मारता है, यह तो कुवचन ही कहता है; वचन में कुछ भी बुरा नहीं है। मार मारे तो विचारना चाहिये कि अज्ञानी को प्राणघात करता है, यह तो मात्र मारने का भाव करता है। प्राणघात भी कोई नहीं कर सकता, मात्र अपने क्लेश का इसप्रकार समाधान करता है। मेरे स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की योग्यता इस काल ऐसी ही होनी थी। अज्ञानी को होता है ज्ञान और मानता है दुःख!! ज्ञानी तो ज्ञेयरूप से सबका जाननेवाला हूँ, ऐसा मानता है। ज्ञाता स्वभाव का तिरस्कार कौन करे ?

प्राणघात होने का समय आ जाये तो भेदज्ञान द्वारा ऐसा विचारना चाहिये कि—अज्ञानी तो समभाव-लक्षण धर्म का नाश करता है, मेरा कुछ नहीं कर सकता। वह मेरे स्वसन्मुख ज्ञाता

स्वभावी धर्म और उसमें धैर्यरूप धर्म का नाश कर सकने में समर्थ नहीं है, वह तो ज्ञेय है, उसमें मुझे अनिष्टपना भासित नहीं होता।

ज्ञानी ऐसा विचार नहीं करता कि—अरे! मैं कितने काल तक प्रतिकूलता सहन करूँ! किंतु अपार ज्ञातास्वभाव के धैर्य को बनाये रखता है। वह विचारता है कि—मेंने ही पूर्व भव में पापरूपी मूर्खता की होगी और उस काल मुझे पाप कर्म का बंध हुआ होगा; यह दुर्वचनादि-उपसर्गादि उसी के फल हैं। यह ज्ञेय तो मुझे अपने ही अपराध का ज्ञान करा रहे हैं। इत्यादि भेदविज्ञानसहित चिंतवन करने से उपसर्गादि के निमित्त में ज्ञातास्वरूप की अरुचिरूप क्रोध तथा राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। इसप्रकार समताभाव को धारण करते हैं—ज्ञाता रहते हैं।

अज्ञानी बाह्य में चाहे जितनी प्रतिकूलताएँ सहन करता दिखायी दे किंतु उसकी सच्ची क्षमा नहीं होती। वह बंधादिक के भय से तथा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से अथवा क्रोध करूँगा तो शास्त्र में लिखा है कि पाप कर्मों का बंध होगा; इसलिये वह क्रोधादि नहीं करता; किंतु वहाँ ज्ञाता स्वभाव की अरुचि और राग की रुचि होने से क्रोधादि करने का अभिप्राय तो बना हुआ है। जिसप्रकार कोई राजादिक के भय से तथा महंतता के लोभ से परस्त्री का सेवन नहीं करता तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता; उसीप्रकार यह भी क्रोधादि का त्यागी नहीं है।—तो फिर त्यागी कैसे कहा जायेगा—तो कहते हैं कि पदार्थ को इष्ट-अनिष्ट माने, वहाँ क्रोधादि होते हैं, जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो तब स्वयं क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते और तभी सच्चा धर्म होता है।

(३) अब उत्तम मार्दव धर्म का कथन करते हैं—

उत्तमणाण पहाणी उत्तम तवयरण करण सीलोवि।
अप्पाणं जो हीलादि मदव रयणं भवे तस्स॥३९५॥

जो मुनि उत्तम ज्ञान से तो प्रधान हो, उत्तम तपश्चरण करने का जिसका स्वभाव हो, तथापि जो अपने आत्मा को मदरहित करे, गर्व न करे, उस मुनि को उत्तम मार्दव-धर्मरत्न होता है। ज्ञानी को अपने अविनाशी चिदानंदी पूर्ण-स्वभाव की ही महिमा वर्तती है, स्वसन्मुखता के बल से अंशत: उतना वीतरागी धर्म प्रगट होने से, अरे! मैं किससे मान करूँ? किसका अभिमान करूँ? सर्व शास्त्रों का ज्ञाता हो, तथापि ज्ञान का मद नहीं करता; वहाँ ऐसा विचार करता है कि—मुझसे महान अवधि, मन:पर्ययज्ञानी है, केवलज्ञानी तो सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी हैं, मैं उनके समक्ष कौन हूँ? अति अल्पज्ञ तुच्छ हूँ;—इसप्रकार निर्मानता ही धारण करता है और आठ प्रकार के मद (-जाति, लाभ,

कुल, रूप, तप, बल, विद्या और अधिकार) को उत्पन्न नहीं होने देता। पूर्ण ज्ञानस्वभाव की विनय करता है। ज्ञाता स्वभाव में सावधान होकर समता द्वारा अपने आत्मा को नम्र बनाता है। उसका नाम अविकारी शांतिरूप विजय और मानादि विकार की पराजय है, तथा वही उत्तम मार्दव धर्म है।

अपने को उत्कृष्ट तप हो, तथापि मद न होने दे। जिसप्रकार मंदिर के शिखर पर मणिमय सुवर्ण-कलश चढ़ाकर उसकी शोभा बढ़ाते हैं, उसीप्रकार अखंडित प्रतापवंत संपदा से आत्मा में स्वसंवेदन ज्ञान की एकाग्रता द्वारा अतीन्द्रिय आनंद उछलने लगे, ऐसी चैतन्य की परम महिमा में वृद्धि करे और रागादि विकार तुच्छ हो जाये अर्थात् उसकी उत्पत्ति न होने दे, वह चैतन्य की शोभा -महिमा है।

जिसप्रकार मध्यबिन्दु से उछलने पर समुद्र में ज्वार आता है, उसीप्रकार आत्मा में अपार पूर्ण ज्ञानानंद की दृष्टि-ज्ञान और एकाग्रता के बल से आनंद का ज्वार आता है। इसप्रकार आत्मा के आदर में अनित्य क्रोध, मान आदि मद उत्पन्न न होने दे, उसका नाम सम्यक्चारित्र का उत्तम मार्दव धर्म है।

ज्ञानी की कही हुई मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा

मैत्री=सर्व जगत से निर्बैर बुद्धि। प्रमोद=किसी भी आत्मा के गुण देखकर प्रसन्नता। करुणा=संसार ताप से दु:खी आत्मा के दु:ख से अनुकंपा प्राप्त करना। उपेक्षा=निस्पृह भाव से जगत के प्रतिबंध को भुलाकर आत्महित में आना।—यह भावनाएँ कल्याणमय एवं पात्रता प्रदान करनेवाली हैं। (श्रीमद् राजचन्द्रजी)

* * *

यह प्राणी धन, यौवन, जीवन को जल के बुदबुदे की भाँति तुरंत विलीन होते देखकर भी उन्हें नित्य मानता है, शरणरूप मानता है, यही महान आश्चर्य है। मिथ्या अभिप्राय, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि मोह के ही भेद हैं। (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा-२१)

सम्यक् सिद्धांत

(१) सम्यक् सिद्धांत 'उपादान की प्रभुता' को प्रसिद्ध करता है—मिथ्यासिद्धांत 'निमित्त की आधीनता' को प्रसिद्ध करता है।

(२) अज्ञानी जीव को अनादि काल से परद्रव्यों के पीछे पड़ने की आदत पड़ गई है, जो बहुत ही दु:खदायी है; और इसीलिये स्वभाववान् वस्तु का सामर्थ्य वह नहीं मानता; राग में और परज्ञेयों में कर्तृत्वबुद्धि क्या है ? उसे वह जानता ही नहीं। फिर चाहे जितने ग्रंथ पढ़े, शुभराग के पीछे पड़े, उससे क्या ? आत्मा और आस्रवों के भेदज्ञान के बिना वह अनंत संसार का साधन करता है।

(३) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का किसी भी अपेक्षा से कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि एक द्रव्य के स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव में परद्रव्य के चतुष्टय का त्रिकाल अत्यंत अभाव है—उसको न माननेवाला संयोग में एकत्वबुद्धि द्वारा भले ही पर से भला-बुरा होना माने, परद्रव्यों का मैं कर्ता, भोक्ता अथवा स्वामी हूँ—ऐसा माने, किंतु कोई भी द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में से बाहर निकलकर एक अंशमात्र भी परद्रव्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि पर के कार्य करने में प्रत्येक द्रव्य, उसके गुण और पर्यायें असमर्थ हैं—अयोग्य हैं।

(४) ज्ञान परज्ञेयों में नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञान में नहीं आते; ज्ञानी परवस्तु को ग्रहण नहीं करता (स्वयं पर का ग्रहण-त्याग कर सकता है, ऐसा वह नहीं मानता) अज्ञानी पर से अर्थात् पराश्रय से लाभ मानने की श्रद्धा को नहीं छोड़ता।

(५) प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय से सदा अखंड है, इसलिये उसमें स्वरूप से एकत्व और अनंत परपदार्थों से अनंत अन्यत्व है। द्रव्य का कोई अंश अन्य का कुछ भी करने के लिये समर्थ नहीं है। अनंत गुणों की पर्यायें प्रत्येक समय में अपने-अपने आश्रित होने के कारण किसी द्रव्य को अपनी अनंत पर्यायों की उत्पाद-व्ययरूप कार्यधारा छोड़कर पर का कार्य करने का अवकाश एक समय भी नहीं मिलता, तथा कोई द्रव्य अपना कार्य किये बिना नहीं रहता।

(६) वस्तु की कोई भी शक्ति पर की अपेक्षा नहीं रखती, फिर भी अज्ञानी पर में कर्तृत्व का अहंकार करता है—और उससे दु:खी होता है।

(७) बहिर्मोह दृष्टि छोड़कर वस्तुस्वभाव को स्वाश्रय की दृष्टि से देखे तो स्वसन्मुख ज्ञातापने के धैर्य द्वारा जीव सुखी हो।

धर्मात्मा को आत्मा का रंग लगा है

वन में बैठे-बैठे निर्विकल्प अनुभव की गुफा में से बाहर निकलकर संतों ने सिंहनाद किया है कि—अरे जीवो! ज्ञान की महत्ता सुनकर एकबार प्रमोद तो करो.... चैतन्य के आनंद का उत्साह तो करो। एकबार अंतर से चैतन्य का उत्साह किया कि भवसागर से बेड़ा पार हो गया।

धर्मात्मा को परमात्मस्वभाव की प्रीति लगी है, वहाँ राग की प्रीति उड़ गई है; आनंद का धाम ऐसा चैतन्य तत्त्व, उसमें प्रविष्ट होकर वह रागादि आस्रवों से पृथक् हुआ है। अहा, जिसकी पर्याय के आँगन में प्रभु पधारे, वह तुच्छ राग के कर्तृत्व में क्यों रुकेगा? धर्मी जीव आस्रव भावों के कर्तृत्व में नहीं रुकता और जो अल्प आस्रव रहा है, उसका भी अंतर्मुख उपयोग द्वारा चैतन्य का बारम्बार स्पर्श करके नाश करता है। जिसे अंतर में आत्मा के आनंद की और परमात्मपद की रुचि हुई, उसे इन्द्र का इन्द्रासन भी तुच्छ लगता है, छह खंड का साम्राज्य भी तृण समान भासित होता है.... उनमें कहीं सुख का अस्तित्व है ही नहीं। सुख की सत्ता तो मेरे चैतन्य धाम में है, सुखधाम मेरा आत्मा है।—ऐसे भान में धर्मात्मा जगत से कितने उदास होते हैं!! सारे संसार की सम्पत्ति सामने पड़ी हो, तथापि धर्मात्मा उससे उदास हैं, एक चैतन्यधाम के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उनकी प्रीति नहीं है; इसलिये पूर्वकाल में बँधे हुए कर्म उसके उदय में आकर खिर जाते हैं, किंतु नवीन कर्मों के बंध का कारण नहीं होते, क्योंकि कर्मों के उदयकाल में धर्मी की रुचि तो चैतन्य स्वभावोन्मुख हो गई है, एकत्वबुद्धि से कर्मों में युक्तता होती ही नहीं। उदयकाल में भी धर्मी को तो चैतन्य की निर्मलता का काल है, इसलिये पूर्वबद्ध आस्रव उन्हें बंध का काल हुए बिना ही खिर जाते हैं। जिसप्रकार युवा स्त्री सामने खड़ी होने पर भी जो पुरुष निर्दोष-निर्विकार रहता है, उसे स्त्री विकार का या बंधन का कारण नहीं होती, उसीप्रकार उदय में आये हुए पूर्व कर्म भी ज्ञानी-धर्मात्मा को बंध का कारण नहीं होते, क्योंकि ज्ञानी-धर्मात्मा विकाररूप से परिणमित नहीं होते; ज्ञानी ज्ञानमय भाव में ही परिणमित होते हैं; रागमय भाव में परिणमित नहीं होते; रागमय भाव को वे अपने से पृथक् ही रखते हैं। बारह अंग का सार यह है कि भावश्रुतज्ञान को स्वभावोन्मुख करना, और वह ज्ञानी ने कर लिया है। ज्ञान को स्वभावसन्मुख परिणमित करके राग के साथ की एकता ज्ञानी ने तोड़ दी है। राग के साथ एकताबुद्धिरूप जो मिथ्यात्व, वह विकार का मूल था; जहाँ

भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व को नष्ट किया, वहाँ विकार की जड़ टूट गई; अब विकार में बल नहीं रहा; अल्पकाल में उसका अभाव अवश्य होगा ही। जिसका उपयोग राग में एकाकाररूप से युक्त होता है, उसी को कर्म बंध होता है; जिसका उपयोग राग से पृथक् ही पृथक् वर्तता है, उसके कर्म छूटते ही जाते हैं।

अहो, ज्ञान की महत्ता तो देखो! जिसके अंतर में चैतन्य की महिमा का मंथन होता है, वह प्रतिक्षण कर्मों से छूटता जाता है और जिसके अंतर में राग की महिमा का मंथन होता है, वह भले ही बड़ा त्यागी बनकर फिरता हो, तथापि उसे प्रतिक्षण कर्म बंध ही होता रहता है। अरे जीव! ऐसी ज्ञान की महत्ता सुनकर एकबार तू प्रमोद तो कर! अपने चैतन्य के आनंद की बात सुनकर उत्साह तो ला! राग में उत्साह कर-करके तो अनंत काल परिभ्रमण किया, अब उसका उत्साह छोड़कर चैतन्य के आनंद का उत्साह कर; एकबार अंतर से चैतन्य का उत्साह करे तो भव से बेड़ा पार हो जाये! श्री पद्मनंदिस्वामी भी कहते हैं कि—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भेवद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

अहो, यह आत्मा चिदानंदस्वरूप है, उसके प्रति प्रीतिपूर्वक-प्रसन्नचित्त से स्वानुभवी पुरुष के मुख से उसकी वार्ता भी जिस जीव ने सुनी है, वह भव्य जीव भविष्य में निश्चय ही मुक्ति का भाजन होता है।

प्रवचनसार में भी आचार्यदेव कहते हैं कि—केवली भगवंतों को घातिकर्मों के क्षय से आहारादि के बिना ही उत्कृष्ट-अतीन्द्रिय-आत्मसुख प्रगट हुआ है, इसलिये निश्चित होता है कि आत्मा स्वयं ही सुखस्वभावी है, उसे सुख के लिये बाह्य विषयों की अपेक्षा नहीं है; आत्मा के सुखस्वभाव की ऐसी बात कानों में पड़ते ही जो जीव प्रमोदपूर्वक हाँ कहकर श्रद्धा करता है, वह जीव आसन्नभव्य है, अर्थात् वह अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करेगा।

इस देहमंदिर में पृथक् विद्यमान चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वयं ही अपनी परमानंददशा का साधन है और स्वयं ही साध्य है, साधक भी स्वयं ही है। स्वयं अपने में एकाग्र होकर अपने परमानंद को साधता है, उसमें बीच में कहीं विकार नहीं है; साध्य में या साधन में कहीं आस्रव नहीं है; इसलिये जो जीव साधक हुआ है, वह वास्तव में आस्रवरहित है। स्वयं अंतर्मुख होकर ध्यातारूप से अपने को ही शुद्ध ध्येयरूप से ध्याता है, ऐसे ध्यान में आस्रव नहीं है। राग, वह

साधन नहीं है; स्वभाव का जो साधन प्रगट हुआ, उसमें राग नहीं है। ज्ञानी ने अंतर में भेदज्ञान की छैनी द्वारा जहाँ ज्ञान और राग की संधि में घाव मारा, वह घाव कभी भरता नहीं है; ज्ञान परिणति, राग से पृथक् हुई सो हुई, अब पुनः कभी राग के साथ एकमेक नहीं होगी। राग का प्रेम तोड़कर उसने परमात्मा के घर में प्रवेश किया, परमात्मपद की ओर उत्कृष्ट प्रेम प्रवाहित हुआ... ('पर प्रेमप्रवाह बढ़े प्रभु से') अविच्छिन्न प्रेम की धारा निजस्वभाव की ओर ढल गई... ऐसे धर्मात्मा को अब कर्मों का आस्रव कैसे होगा ?—वह कर्मों का कर्ता कैसे होगा ?—देखो, यह मोक्ष का मार्ग! अहो, एकबार राग और ज्ञान के बीच का भेद करके ज्ञानस्वभाव की ओर शक्ति तो लगाओ! ज्ञानस्वभाव स्वयं अबंध है, उसकी ओर झुकने से ही अबंधता प्रगट होती है। पूर्व में बँधे हुए कर्म सत्ता में पड़े होने पर भी ज्ञानी तो अबंध ही है; क्योंकि ज्ञानी की परिणति तो स्वसमय का अनुसरण करती है। ज्ञानी की परिणति कर्मों की सत्ता का अनुसरण नहीं करती किंतु चैतन्यसत्ता का ही अनुसरण करती है। चैतन्य का अवलंबन छोड़कर जो कर्म का अनुसरण करता है, उसी को बंधन होता है। चैतन्य का अनुसरण करनेवाला भाव तो सर्व राग-द्वेष-मोह से रहित है, इसलिये वह बंध का कारण नहीं होता। शुद्ध चैतन्य सत्ता की ओर झुका हुआ भाव नवीन कर्म बंध का कारण किंचित्मात्र होता ही नहीं।

जगत में जिनपद अनादि-अनंत हैं; जिनपद प्रगट करनेवाले परमात्मा भी अनादिकाल से हैं और शक्तिरूप से प्रत्येक आत्मा में जिनपद प्रगट करने की शक्ति है। ऐसे अचिंत्य सामर्थ्यवाला निजपद है, उसका अवलोकन जीव ने पहले एक क्षण भी नहीं किया है। अहो, यह जो चैतन्यमय जिनपद है, उसमें कर्म का प्रवेश ही कहाँ है ? आचार्य भगवान ने वन में बैठे-बैठे निर्विकल्प अनुभव की गुफा में से बाहर निकलकर सिंहनाद किया है कि अरे जीवो! ज्ञानस्वभाव की ओर झुकी हुई परिणति में आठों कर्मों का अभाव है... उस स्वभाव की ओर उन्मुख होओ। जिसप्रकार सिंह के सामने हिरन खड़े नहीं रहते; उसीप्रकार अंतर्मुख परिणति से जहाँ चैतन्यसिंह जागृत हुआ वहाँ आठों कर्म दूर भागते हैं।

जिसे अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप के रस का स्वाद आया, उसे कर्म की आकुलता के रस का स्वाद क्यों आयेगा ? सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को राग की रुचि का असंभव है, उन्हें रागरहित चैतन्य वेदन हुआ है। जहाँ चैतन्य शांति के फव्वारे छूटे, वहाँ राग-द्वेष-मोह कैसे ? अंशमात्र भी राग की रुचि रहे और सम्यग्दर्शन हो जाये—ऐसा नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन और राग-द्वेष-मोह में

भिन्नता है। सम्यक्त्व का भाव है, वह अबंधक है और उसमें रागादि का अभाव है। बंधन के कारण तो रागादि ही हैं, उन रागादि के अभाव में धर्मात्मा को पुराने कर्म, नये कर्म बंध का कारण नहीं होते; इसलिये धर्मी जीव अबंध ही है—ऐसा जानना।

चेतन परसों प्रेम बढ्यो।

स्व-पर विवेक बिना भ्रम भूल्यो मैं मैं करत रह्यो॥ चेतन०
नरभव रतन जतन बहुतैं करि, कर तेरैं आई चढ्यो,
सु क्यों विषय सुख लागि हारिये, सब गुन गठनि गठ्यो॥ चेतन०
आरंभ में ×कुसियार कीट ज्यौं, आपुहि आप मढ्यो,
'रूपचंद' चित चेतन नाहि नै, *सुक ज्यौं व्यर्थ पढ्यो।
चेतन परसों प्रेम बढ्यो।

× रेशम का कीड़ा * तोता

अध्यात्म पद

[कविवर श्री दौलतरामजी कृत]

हे नर! भ्रम नींद क्यों न, छाँड़त दुखदाई।
सोवत चिर काल सौंज आपनी ठगाई। हे नर भ्रम नींद०॥टेक॥
मूरख अब कर्म कहा, भेदे नहिं मर्म लहा;
लागै दुखज्वाल की न देह कै ताताई॥ हे नर०॥१॥
जम के रव बाजते, सुभैरव अति गाजते,
अनेक प्रान त्यागते, सुनै कहा न भाई॥ हे नर०॥२॥
पर को अपनाय आप, रूप को भुलाय हाय,
करन विषय दारू जार चाहदौ बढ़ाई॥ हे नर०॥३॥
अब सुन जिनवानि, राग द्वेष को जु हानि,
मोक्षरूप निज पिछान दौल, भज विरागताई॥ हे नर०॥४॥

'काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग'

'आत्मानुशासन' के रचयिता श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं कि—

हे जीव! मैं अकिंचन हूँ, अर्थात् मेरा कुछ भी नहीं है, ऐसा सम्यक् भावनापूर्वक तू निरंतर रह; क्योंकि इसी भावना के सतत चिंतवन से तू त्रैलोक्य का स्वामी हो जायेगा। यह बात मात्र योगीश्वर ही जानते हैं। ऐसे योगीश्वरगम्य परमात्मतत्त्व का रहस्य मैंने तुझे संक्षेप में कहा है।

अज्ञान के उदय से जीव को परपदार्थ में ममत्व हुआ करता है, किंतु जो पर है, वह किसी प्रकार से भी निजरूप होनेवाला नहीं है। परपदार्थ की ममत्व भावना के योग से ही जीव अनादि काल से हीनसत्व हो रहा है। 'कोई भी परद्रव्य मेरा नहीं है'—इसप्रकार जब सम्यक्रूप से निरंतर सम्यक् भावना जागृत होगी, तब उसी समय जीव त्रैलोक्य का नाथ हो जायेगा। यह गुप्त रहस्य मात्र योगी पुरुष ही जानते हैं—अनुभव करते हैं। वही मैंने आज तुझे संक्षेप में कहा है। परपदार्थ के ममत्व में अनादिकाल से दीन हीन बने रहने पर भी एक भी पदार्थ आजतक तेरा हुआ हो या तू तद्रूप हुआ हो, क्या ऐसा तुझे भासित होता है ?—यदि नहीं, तो फिर उसी के व्यर्थ विकल्प में क्या साध्य है ? अथवा क्या तुझे मात्र कोई हठ ही नहीं है ?—कि जिससे तू अनादि काल से पर को निजरूप परिणमित करने का प्रयत्न कर रहा है ? भाई! रेत को चाहे जितना पेलने पर भी उसमें से तेल की प्राप्ति कभी हो सकती है ? अर्थात् रेत से तेल निकल सकता है ?—नहीं निकल सकता। हे जीव! तू अनादिकाल से परपदार्थों में भटकती हुई निजबुद्धि छोड़कर स्व में स्वबुद्धिरूप परम अकिंचन भाव को ग्रहण कर! यह तुझे हमारी संक्षिप्त किंतु हितकारी शिक्षा है। कविवर श्री बनारसीदासजी कहते हैं कि:—

पुद्गल पिण्ड भाव रागादि, इनसे नहीं तुम्हारो मेल;
ए जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसे भिन्न तिल अरु तेल।

(भाषा समयसार)

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, चेतक है सो ही मैं हि हूँ;
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना।

(समयसार गाथा-२९७)

श्री पार्श्वनाथ प्रभु के पूर्व भव

क्रोध के ऊपर क्षमा की विजय

'क्षमा वीरस्य भूषणं' इस सूत्र का साक्षात्कार करानेवाला भगवान पार्श्वनाथ प्रभु के दस भवों का जीवन देखने से मुमुक्षु को वीतरागभाव की प्रेरणा मिलती है। भयंकर उपद्रव आने पर भी अचल आत्मसाधना का उत्साह जागृत होता है, क्षमा की महत्ता और क्रोध की हीनता देखकर उनकी आत्मा क्षमा के प्रति उल्लसित होती है तथा क्रोध से विरक्त होती है। कमठ जो कि—एक समय उनका सगा भाई था, उसने क्रोध से पार्श्वनाथ भगवान के जीव के ऊपर दस भव तक घोर उपद्रव किये और भगवान ने क्षमाभाव से उन उपद्रवों को सहन किया। दस-दस भव तक मानों क्रोध और क्षमा के बीच लड़ाई चली, और अंत में क्रोध के ऊपर क्षमा की विजय हुई। पुराण शास्त्रों में ऐसे हजारों बोधदायक प्रसंगों का वर्णन आता है। जगत में क्रोध और क्षमा के बीच सदा संघर्ष चलता ही रहता है, अज्ञानी क्रोध से उपद्रव करते आये हैं और ज्ञानी साधक क्षमा से सहन करते आये हैं। आराधक के ऊपर अनेक उपद्रव आते हैं और वे अपनी आराधना में अचलित रहते हैं। चाहे पत्थर की वर्षा हो या पानी की, अग्नि की ज्वाला हो या सर्पों की फुंकार हो—ज्ञानी अपनी आराधना से चलायमान नहीं होते। दस भव से उपद्रव करते-करते अंतिम भव में आत्मध्यान में मग्न पार्श्वनाथ मुनिराज के ऊपर कमठ के जीव ने पत्थर, पानी तथा अग्नि के द्वारा घोरातिघोर उपद्रव करने पर भी वे क्षमावीर आत्मसाधना से च्युत नहीं हुए... अर्थात् रंचमात्र भी क्रोध की उत्पत्ति नहीं हुई, तब धरणेंद्र और पद्मावती ने आकर भक्ति से छत्र धरकर उपद्रव दूर किया—तो इसके ऊपर भी राग उत्पन्न नहीं हुआ... भगवान को तो वीतराग होकर सर्वज्ञता की प्राप्ति करना था... अंत में वे सर्वज्ञ हुए... और कमठ के जीव को पश्चाताप हुआ... क्षमा के सामने क्रोध की हार हुई... क्षमा की विजय हुई... अनेक स्थानों में पार्श्वनाथ प्रभु के पंचकल्याणक के समय चित्रों द्वारा पार्श्वप्रभु का जीवन चरित्र देखने से, और उनकी अखंड क्षमा, अचलित साधना तथा क्रोध के ऊपर क्षमा की विजय देखकर हजारों प्रेक्षकों की सभा में हर्ष से जय-जयकार की ध्वनि गूँज उठती है। अभी बम्बई में पार्श्वप्रभु के पंचकल्याणक तथा उनके दस भवों के चित्र और कमठ का उपद्रव, वगैरह दृश्य देखने में आये... तदनुसार यहाँ आत्मधर्म में भी पार्श्वप्रभु के पूर्व भवों का सचित्र वर्णन संक्षेप में दिया जा रहा है।

श्री पार्श्व प्रभु का पहला भव

श्री पार्श्व प्रभु का दूसरा भव

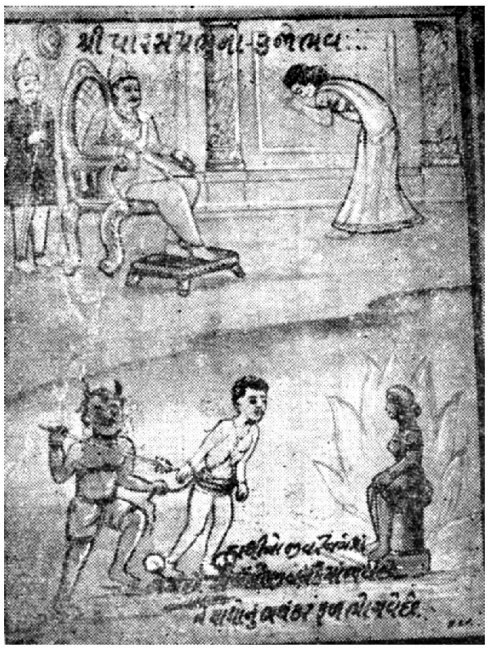

श्री पार्श्व प्रभु का तीसरा भव

श्री पार्श्व प्रभु का चौथा भव

पूर्व दसवें भव में पार्श्वनाथ का जीव मरुभूति था; तथा कमठ का जीव उसका बड़ा भाई था। दोनों सगे भाई थे। एक समय किसी दोष के कारण राजा ने उस कमठ को गाँव से बाहर निकाल दिया; अपमानित होकर कमठ त्यागी बाबा बनकर हाथ में शिला उठाकर कुतप करता था। बाद में मरुभूति को यह बात मालूम पड़ने पर, बंधुप्रेम के कारण उसको घर लाने के लिये गया, तथा नमस्कार करके क्षमा याचना करने के लिये जाता है तो वहाँ कमठ के जीव ने क्रोध में आकर हाथ में की बड़ी शिला उसके ऊपर पटक दी, कि जिससे मरुभूति की मृत्यु हो गयी।

मरुभूति का जीव मरकर हाथी हुआ, और कमठ का जीव तीव्र क्रोध के परिणाम से मरकर भयंकर साँप हुआ। इधर मरुभूति के मृत्यु की बात सुनकर वैरागी होकर राजा दीक्षित हुए। एकबार अनेक मुनिजन साथ में सम्मेदशिखर तीर्थ की यात्रा करने के लिये जाते थे, वे मुनिराज संध्याकाल के समय वन में सामायिक करते थे, उनको देखकर यह हाथी उनके पास गया, उनका श्रीवत्स चिह्न देखकर हाथी को पूर्व भव का स्मरण हो गया और शांत होकर एक विनयवान शिष्य के समान मुनिराज के चरणों के समीप जाकर बैठ गया, यह देखकर सभी को आश्चर्य हुआ। अवधिज्ञान से मुनिराज ने जाना कि यह हाथी उस मरुभूति का जीव है और होनहार तीर्थंकर है; उसको धर्मोपदेश दिया! हाथी ने सम्यग्दर्शन सहित पाँच अणुव्रत धारण किये। एकबार पानी पीने के लिये जाते समय तालाब में उसका पैर फँस गया, तब कमठ का जीव जो सर्प हुआ था, उसने उसे काट खाया, मरुभूति—हाथी का जीव आराधना के उत्तम परिणाम सहित मरकर स्वर्ग में देव हुआ और कमठ—सर्प का जीव क्रूर परिणाम से मरकर नरक में गया, वहाँ अपने पापों का भयंकर फल भोगा।

कमठ का जीव नरक में से निकलर बड़ा अजगर हुआ.... मरुभूति का (पार्श्वनाथ का) जीव विदेह में अग्निवेग नाम का राजकुमार हुआ, वहाँ मुनि होकर ध्यान में बैठे हैं; उसी समय पूर्व संस्कार के कारण अजगर वहाँ आया और ध्यानस्थ मुनिराज को निगल गया। मुनिराज आराधनापूर्वक मरकर स्वर्ग में गये और अजगर नरक में गया।

स्वर्ग की तथा नरक की स्थिति पूरी करके दोनों जीव फिर मनुष्य हुये। पार्श्वनाथ का जीव (मरुभूति, हाथी और राजकुमार के बाद) विदेहक्षेत्र में व्रजनाभि चक्रवर्ती हुआ... पश्चात् वैरागी होकर दीक्षा लेकर मुनिदशा में ध्यान में है, वहाँ पर कमठ, सर्प और अजगर के बाद भील बना हुआ वह, कमठ का जीव वहाँ आकर पहुँचा और मुनिराज को देखते ही तीर मारकर उनको छेद

डाला... अरे, एक समय के दोनों सगे भाई! देखों संसार की यह स्थिति।

मुनि तो समाधिपूर्वक देह छोड़कर स्वर्ग में गये... कमठ का जीव भील अपने दुष्कर्म का फल भोगने के लिये घोर नरक में गया।

पार्श्वनाथ का जीव स्वर्ग में से निकलकर अयोध्यानगरी में आनंदकुमार नाम का महामांडलिक राजा हुआ। श्वेत बाल देखकर वैराग्य को प्राप्त होकर मुनि हुआ, और उत्तम परिणामों से तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया, इस मुनिदशा में ध्यान में थे, इतने में कमठ का जीव कि—जो नरक में से निकलकर सिंह हुआ था, वह आकर मुनि के शरीर को भक्षण कर गया।

पार्श्वनाथ जीव तेरहवें आनत स्वर्ग में देव हुआ तथा कमठ का जीव नरक में गया।

पार्श्वनाथ का जीव पूर्व दसवें भव में मरुभूति, फिर हाथी, देव, मुनि, देव, चक्रवर्ती-मुनि, देव, फिर मुनि और फिर देव होकर अंतिम भव में गंगा के किनारे काशी नगरी में तीर्थंकर हुआ।

और कमठ का जीव पूर्व दसवें भव में मरुभूति का भाई कमठ, बाद में सर्प, नारकी, अजगर, नारकी, भील, नारकी, सिंह और फिर नारकी होकर अब महिपाल के रूप में जन्म लिया।

वह महिपाल तपस्वी होकर पंचाग्नि में लकड़े जलाता था। जलती हुई लकड़ी के खोखले भाग में नाग-नागिन भी थे और वे भी जलने लगे। इतने में राजकुमार पार्श्वनाथ वन विहार करते-करते वहाँ आ पहुँचे... और दया से प्रेरित होकर कहा, अरे तपस्वी! इस लकड़े के साथ सर्पयुगल भी भस्म हो रहा है... ऐसी हिंसा में धर्म नहीं होता, कुमार की बात सुनकर तपस्वी क्रोध से संतप्त हुआ और लकड़ा फाड़कर देखा तो अंदर से अर्धदग्ध नाग-नागिन तड़फते हुए निकले... पार्श्वकुमार ने दया भाव से नमस्कारमंत्र सुनाकर उन नाग-नागिन का उद्धार किया; नमस्कार मंत्र के प्रताप से शांतपरिणाम से मरकर वे दोनों धरणेंद्र तथा पद्मावती देवी हुए। तपस्वी महिपाल कुतप से मरकर संवर नाम का ज्योतिषी देव हुआ।

इधर काशीनगरी में राजकुमार पार्श्वनाथ एकबार राजसभा में बैठे थे। देश-देश के राजाओं की ओर से भेंट आती हैं। अयोध्यानगरी के राजदूत भी उत्तम भेंट लेकर आ पहुँचे। अयोध्यानगरी कैसी है, यह पूछने पर दूत के मुख से अयोध्या की अद्‌भुत महिमा सुनकर, तथा अपने समान आदिनाथ वगैरह अनेक तीर्थंकर वहाँ हो गये, यह सुनकर पार्श्वकुमार वैराग्य को प्राप्त होते हैं... जातिस्मरण होता है, और दीक्षा लेकर मुनि होते हैं।

एकबार मुनिदशा में पार्श्वप्रभु ध्यान में खड़े हैं, इतने में संवरदेव (कमठ के देव) का

श्री पार्श्व प्रभु का पाँचवाँ भव

श्री पार्श्व प्रभु का छठा भव

श्री पार्श्व प्रभु का सातवाँ भव

श्री पार्श्व प्रभु का आठवाँ भव

विमान वहाँ अटक जाता है... और इस मुनि ने ही मेरा विमान रोक दिया है, ऐसा समझकर अत्यंत क्रोधित होकर दुष्ट परिणाम से अग्नि-पत्थर तथा पानी वगैरह से घोर उपद्रव करता है। इसी समय धरणेंद्र और पद्मावती (नाग-नागिन के जीव) वहाँ आकर भक्तिपूर्वक सेवा करते हैं, तथा छत्र धारण करके उपदेव दूर करते हैं। भगवान तो ध्यान में इसप्रकार से लीन हैं कि उनको तो भान ही नहीं कि कौन उपद्रव करता है और कौन भक्ति करता है ? उनको उपद्रव करनेवाले पर द्वेष नहीं तथा भक्ति करनेवाले पर राग भी नहीं।—वे तो अपनी साधना में मग्न हैं। एक तरफ क्रोध की पराकाष्ठा है तो दूसरी ओर क्षमा की पराकाष्ठा है। अंत में भगवान पार्श्वनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होता है, कमठ का जीव संवरदेव पश्चाताप से प्रभु के चरणों में नमस्कार करके क्षमा याचना करता है, और भगवान के पास धर्म की प्राप्ति करता है।

यह है क्रोध के ऊपर क्षमा की विजय!

कमठ के जीव ने लगातार अनेक भव तक बैर-बुद्धि से पार्श्वनाथ के जीव के ऊपर घोर उपद्रव किया, परंतु पार्श्वनाथ के जीव ने क्षमाभाव धारण करके अंत में अपना उद्धार किया। जैसे पारस की संगति से लोहा सुवर्ण बन जाता है, उसीप्रकार पार्श्वप्रभु की संगति से कमठ जैसा जीव भी धर्म को प्राप्त करके सुवर्ण के समान बन गया, पार्श्वनाथ प्रभु के जीवन की यह मुख्य विशेषता है, यह आत्मार्थी जीव के लिये महान आदर्शरूप है।

एक... ही... बार

चिदानंदस्वभाव के अनुभव की रीति बतलाकर आचार्यदेव प्रमोदपूर्वक कहते हैं कि —अहो! यह अपूर्व बात है... अरे भाई! एकबार हमारी बात सुनकर लक्ष में तो ले... ऐसा ही मेरा स्वभाव है। इसप्रकार लक्ष में लेकर एकबार रुचिपूर्वक 'हाँ' तो कह। एकबार भी आत्मा में इस स्वभाव के दृढ़ संस्कार डाल ले तो तेरा अपूर्व कल्याण होगा। दूसरा सब अनंतबार किया, अब एकबार तो यह कर! ऐसी अपूर्व प्रतीति करने में जीवन की सफलता है। अज्ञानभाव से आत्मा निजशक्ति को हार बैठा है; इसे समझने से आत्मा की विजय होती है अर्थात् उसकी निजशक्ति विकसित हो जाती है और वह संसार से मुक्त होकर सिद्धदशा प्राप्त करता है।

(बैशाख शुक्ला दूज के प्रवचन से)

श्री पार्श्व प्रभु का नवमा भव

श्री पार्श्व प्रभु का अंतिम भव

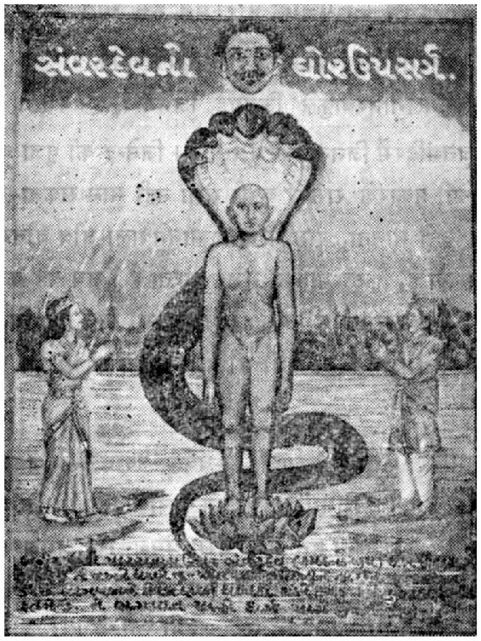

श्री पार्श्व प्रभु पर संवरदेव द्वारा घोर उपसर्ग

श्री वीतरागदेव की पूजा का रहस्य

खेमचंद जेठालाल शेठ, सोनगढ़

जिनेन्द्रदेव की पूजा के प्रारम्भ में हम गाते हैं—

उदकचंदनतंदुलपुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घकैः।
धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिननाथमहं यजे॥

मैं जिनमंदिर में जिननाथ को पूजता हूँ। जिनेन्द्र की पूजा करनेवाला जीव किसी भी प्रकार के राग को कभी भला नहीं मान सकता-राग करने योग्य है, ऐसा नहीं मानता। राग को भला माननेवाला जीव वीतरागदेव का भजन नहीं करता, किंतु मोह का भजन करता है। जब वह कहता है कि 'मैं जिननाथ की पूजा करता हूँ' तो फिर अंशतः भी जिन हुए बिना अर्थात् राग की एकताबुद्धि छोड़े बिना कभी भी वीतरागदेव की यथार्थ पूजा नहीं हो सकती।

जिनमंदिर कैसा है ? कहते हैं—धवल-उज्ज्वल-मंगलकारी गान के नाद से गूंज रहा है; अतः जिनमंदिर में जानेवालों को चाहिये कि वह जिससे अपने परिणामों में उज्ज्वलता हो, सदा वैसा मंगलकारी प्रसन्नतामय गान गावे, इसलिये जिनमंदिर में जाकर तीव्र कषाय मानादि बड़प्पन का भाव नहीं करना चाहिये-परिणामों में आकुलता नहीं करनी चाहिये।

जिननाथ की पूजा किस द्रव्य से करता हूँ ? कहते हैं - जलादि शुद्ध अष्ट द्रव्यों से, अब पूजा करते समय उस-उस द्रव्य के माध्यम से पूजा करने का हेतु क्या है ? जैसे चंदन और दीपक द्वारा पूजन करते समय हमारे कैसे भाव होना चाहिये और उससे क्या बोध पाठ मिलता है ?

चंदन (१) जैसे चंदन तप्तवस्तु को शीतल बना देता है, वैसे ही हे भगवन ! चंदन द्वारा पूजा के समय मैं किंचित् स्वसन्मुखतापूर्वक भावना भाता हूँ कि चंदन से भी अधिक और अनुपम सर्वोत्तम शीतल ऐसा मेरा आत्मदेव का मैं सदा आश्रय करूँ, जिस स्वसन्मुखता के बल से मन के विकल्प में, शरीर में तथा पर में एकत्वबुद्धिरूप आधि-व्याधि-उपाधिमय त्रिविध ताप का शमन होकर आत्म परिणामों की स्वस्थतारूप समाधि को मुझे प्राप्ति हो, विषमता की प्राप्ति जरा भी न हो।

(२) जैसे चंदन कूड़े के ढेर पर रखा जावे, घिसा जावे तो भी वह अपने सहज सुगंधमय स्वभाव को कभी छोड़ता नहीं है, उसको काटने पर भी कुल्हाड़ी को भी सुगंधमय बना देता है; वैसे ही हे भगवान ! चंदन द्वारा पूजा के समय मैं भावना भाता हूँ कि बाह्य अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएँ

आने पर भी मैं उनको ज्ञेयमात्र जानकर स्वसन्मुख ज्ञाता-दृष्टा बना रहूँ, ज्ञातापन में धीरज रखनेवाले ज्ञानमय स्वभाव को कभी न छोड़ूँ।

(३) चंदन वृक्ष अति शीतल है, इसलिये उसके स्कंध शाखा आदि से सांप आदि लिपटे पड़े रहते हैं। चंदन लेने का इच्छुक मयूर को साथ में ले जाता है, उसका केकारव सुनते ही चंदन वृक्ष से लिपटे हुवे सर्पादि शीघ्र चंदन वृक्ष को छोड़कर दूर भाग जाते हैं और वह आदमी चंदन प्राप्त कर लेता है, वैसे ही अनुपम चंदन के समान शीतल निज आत्मा की पर्याय में अपद्भूत मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पड़े हुए हैं, लेकिन मेरा एकान्त बोध बीज अंत:तत्त्व आत्मा सदा सिद्ध परमात्मा जैसा शुद्ध स्वभाव अखंड पूर्ण ज्ञान शांति मात्र है, ऐसी श्रद्धा के बल से वे सब विषमतायें नष्ट हो जाओ और मुझे साक्षात् शुद्धता की प्राप्ति होओ, ऐसी मेरी भावना हे भगवन! चंदन द्वारा पूजा करते समय मैं भाता हूँ।

दीपक द्वारा पूजा करते समय की भावना—

(१) जैसे दीपक में जब तक तेल (स्नेह) है, तब तक वह जलता है; उसीप्रकार जब तक मेरी भूलरूप अशुद्ध उपादान में भी किसी प्रकार का स्नेह (राग) है, तब तक मुझे संसार में त्रिविध ताप से जलना पड़ेगा—परिभ्रमण करना पड़ेगा। हे भगवन! दीपक द्वारा आपकी पूजा करते समय मैं भावना भाता हूँ कि मैं स्नेह (राग) का सर्वथा अभाव करके संसार भ्रमण से छूट जाऊँ।

(२) लौकिक दीपक के लिये तेलादि चाहिये, तब तक वह प्रकाशता रहता है, किंतु चैतन्यदीपक के लिये अन्य किसी भी बाह्य पदार्थ की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं प्रकाशमान है। हे भगवन! दीपक द्वारा आपकी पूजा करते समय मैं भावना भाता हूँ कि मेरा सर्वविशुद्ध चैतन्य दीपक सदा स्वयं प्रकाशित रहो और अन्य कोई भी परद्रव्य-परभाव की अपेक्षा उसे कभी भी न हो।

(३) रत्न दीपक के अतिरिक्त जितने भी अन्य लौकिक दीपक हैं, वे सब प्रचंड पवनादिक से बुझ जाते हैं, किंतु रत्नदीपक स्वयं प्रकाशमान होने से प्रचंड वायु आदि से भी कभी बुझते नहीं; वैसे ही मेरे चैतन्य दीपक का प्रकाश अनंत प्रतिकूलताओं से भी कदापि अंशमात्र भी चलित न हो, ऐसी भावना हे भगवन! दीपक के द्वारा आपकी पूजा करते समय मैं भाता हूँ।

(४) लौकिक दीपक अन्य दीपक से जलता हुआ देखा जाता है, किंतु हे भगवन! आप अनुपम महान दीपक हो, दीपक द्वारा आपकी पूजा करते समय मैं भावना भाता हूँ कि मेरा छोटा सा

ज्ञानदीप सदाकाल अंतर में अकम्पतया प्रकाशमान रहा करो और आपके केवलज्ञान सूर्य से वह सदा उज्वलित रहा करो।

(५) दीपक का प्रकाश अंधकार का नाशक है, अंधेरे में पड़ा हुआ पदार्थ और अंधकार एकरूप वहाँ तक भासता है, जब तक प्रकाश नहीं, लेकिन प्रकाश होते ही सब पदार्थ स्पष्ट भिन्न-भिन्न भासते ही हैं, ठीक वैसे ही ज्ञानदीपक द्वारा मेरे मोहांधकार-अज्ञानतिमिर का सर्वथा नाश हो और हेय-उपादेय आदि सर्व पदार्थ का स्वरूप जैसा है, वैसा ही मेरे ज्ञान में प्रतिभासित हो—ऐसी भावना हे भगवन! दीपक द्वारा पूजा करते समय मैं भाता हूँ।

(६) दीपक के निकट कोई पदार्थ हो तो दीपक उसको प्रकाशता है, किंतु कमरे में स्थित दूरस्थ को न प्रकाश सके, ऐसा नहीं है; उसीप्रकार हे भगवन! दीपक द्वारा पूजा करते समय मैं भावना भाता हूँ कि अन्य ज्ञेय पदार्थ चाहे समीप हों या दूर हों तो भी मैं उनको इष्ट अनिष्ट मानने का निमित्त न बनाकर उनका मात्र ज्ञाता रहकर स्वसन्मुख ज्ञातारूप में सदा काल जानता ही रहूँ, ज्ञेय को भला-बुरा कदापि न मानूं।

(७) दीपक के निकट सोने का ढेर होवे तो उसका प्रकाश बढ़ जावे और कोयले का ढ़ेर होवे तो प्रकाश कम हो जाये, ऐसा कभी बनता नहीं। दीपक तो उन दोनों को प्रकाशता है; उसीप्रकार मेरे ज्ञान दीपक का प्रकाश अनुकूल पदार्थ होवे तो बढ़ जावे और प्रतिकूल पदार्थ हो तो कम हो जाये—ऐसा कभी बनता नहीं, इसलिये हे भगवान! दीपक द्वारा पूजा करते समय मैं भावना भाता हूँ कि सर्व पदार्थों को मैं स्वज्ञान प्रकाश द्वारा जानता हुआ निरंतर ज्ञानचेतना के संचेतन में जागृत रहूँ; प्रतिकूल अनुकूल कोई नहीं है। अतः प्रतिकूलता से दब जाना, अनुकूलता से गर्वित होना ऐसा मोह-क्षोभ मुझे कभी भी न होओ।

(८) जैसे दीपक का प्रकाश धूम से-कालिमा से भिन्न है; वैसे ही हे भगवन! दीपक के द्वारा पूजा करते समय मैं भावना भाता हूँ कि मेरा ज्ञान-दीपक सर्वप्रकार मोह-राग-द्वेषरूप कालिमा से सर्वदा सर्वथा भिन्न हो।

(९) दीपक स्वभाव से ही स्व-पर प्रकाशक है; वैसे मेरा ज्ञानदीपक भी स्वभाव से ही स्व-परप्रकाशक है, इसलिये मैं भावना भाता हूँ कि मेरा ज्ञानदीपक सदा प्रकाशक ही रहो, अन्य पदार्थ वा मोह-शुभाशुभभावों का कर्ता, भोक्ता-स्वामी न बनो।

भगवान की पूजा करते समय हमारी भावना कैसी होनी चाहिये यह कहा, उसीप्रकार अन्य

पूजा के द्रव्य द्वारा पूजा के समय भी आत्महितकारी उज्ज्वल भावना करनी चाहिये, तभी हमारी पूजा यथार्थ और सफल बन सकती है।

जो जीव अपने शुद्धस्वरूप में लीन न रह सके, उसको सर्वज्ञ परमात्मा की पूजा, भक्ति आदि का शुभभाव आए बिना रहता नहीं। किंतु ज्ञानी समझते हैं कि ये भी पुण्यबंध के कारण हैं, उनका भी अभाव कर जब निजशुद्धस्वरूप में लीनता करूँगा, तभी निश्चयभावपूजा होगी और यही धर्म है, इसलिये करनेयोग्य है। [धर्मी जीव को पूजादिक के समय जितने अंश में स्वसन्मुखता है, उतने अंश में वीतरागभावरूप धर्म ही है, बंधन नहीं है और वह निश्चय धर्म है और जितने अंश में सरागता है, उतना अंश बंधन है किंतु सहचर हेतु का ज्ञान कराने के लिये उसे उपचारमात्र व्यवहार धर्म कहा है। अत: धर्मी जीव को सर्वत्र, सर्वदा, सर्व राग, हेयबुद्धि से है, ऐसा समझना चाहिये।]

तात्पर्य—

(अ) वीतराग की सच्ची पूजा सर्व प्रकार के रागादि भावों का आदर छोड़कर वीतरागी बनने में है।

(ब) सर्वज्ञ की सच्ची पूजा अल्पज्ञता का आदर छोड़कर सर्वज्ञता प्रगट करने में है।

(क) प्रभु की सच्ची पूजा शक्तिरूप पूर्णता के आलंबन के बल से क्षणिक पामरता का अभाव कर प्रगट दशा में प्रभुता प्राप्त करने में है।

आत्मा की फतह

बैशाख शुक्ला दूज के दिन पूज्य गुरुदेव ने फतेहपुर (गुजरात) में प्रवचन करते हुए कहा—देखो भाई, जगत में सब कुछ सुलभ है परंतु चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति अतिदुर्लभ है। अंतर में चिदानंदस्वरूप आत्मा का अनुभव कैसे होता है?—वह जानकर वही करनेयोग्य है.... उसी में आत्मा की फतह है, तथा उसी में जीवन की सफलता है। भाई, एकबार चैतन्य की बात लक्ष में लेकर उल्लासपूर्वक स्वीकार कर ले तो तेरी अपूर्व फतह हो... और तुझे मोक्षपद प्राप्त हो जाये। सुलटा अभ्यास करे तो सुगम है, अनभ्यास से कठिन है।

★

मोक्ष के हितरूप जानकर उसकी साधना का उपदेश

मनुष्यजन्म अत्यंत दुर्लभ है। मिथ्यात्व कषायमय जीवन नि:सार है, ऐसी दशा में जीवों को आत्मार्थी होकर आलस्य-प्रमाद छोड़कर अपने हित को जानना चाहिये, वह हित मोक्ष ही है।

(ज्ञानार्णव, गाथा ४६)

जो धीर और विचारशील हैं, अतीन्द्रियसुख (मोक्षसुख) (अपने आत्मा से ही उत्पन्न सुख को सच्चा सुख कहते हैं) को पहिचानकर उसी को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें मिथ्यात्व और पर में सावधानी (-स्व में असावधानी) रूपी प्रमाद छोड़कर इस मोक्षसुख में ही सतत् परम आदर करना चाहिये। (ज्ञानार्णव, गाथा ४७)

नहि काल कला एकापि विवेक विकलाशयै:।
अहो प्रज्ञाघनैर्नेया नृजन्मन्यति दुर्लभै॥

अहो भव्यजीवो! यह मनुष्य जन्म महा दुर्लभ है। बारंबार ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है, इसलिये, बुद्धिमानों को भेदविज्ञान में सावधान रहना चाहिये। विवेक-विचारशून्य होकर काल की एक कला को भी व्यर्थ मत जाने देना। (ज्ञानार्णव, गाथा ४८)

मिथ्यात्व, पुण्य, पाप, राग-द्वेष अज्ञानमय संसार को महान गहन वन की उपमा है क्योंकि सदा दु:खरूपी अग्नि की ज्वाला से एकमेक है, ऐसे संसार में इंद्रियाधीन सुख है, वह निरस है, बाधा सहित है, दु:ख का कारण है तथा दु:खमिश्रित ही है। और जो काम तथा अर्थ (धनादि) हैं, वे अनित्य हैं, इसलिये उनके आश्रित जीवन बिजली की चमक के समान चंचल है। ऐसा उनकी विषमता का विचार करनेवाले, जो अपने स्वार्थ में-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र में सावधान हैं, वे सुकृति हैं-सत्पुरुष हैं, वे कैसे मोह को प्राप्त होंगे? कदापि नहीं। (ज्ञानार्णव, गाथा ४९)

सुवर्णपुरी समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुखशांति में विराजमान हैं। गत मास में प्रवचन में—पंचास्तिकाय शास्त्र में से मोक्षमार्ग अधिकार चला, उसमें भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक मुनि का अर्थात् मोक्षमार्ग का अद्‌भुत वर्णन बहुत स्पष्टता से होता था। जैन शिक्षण कक्षा में आनेवालों को और सभी को अति सन्तोष मिला। दोपहर के समय समयसारजी में से सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार पर प्रवचन चलता है। तारीख ३-९-६४ से देशव्रतोद्योतन पर भी प्रवचन चलेगा। जैन यात्रियों के लिये नूतन धर्मशाला का उद्‌घाटन समाज-जाति भूषण शेठ श्री भगवानलालजी (सागर) के द्वारा तारीख ८-८-६४ को हुआ। अब मेहमानों को ठहरने में कठिनाई काम हो गई है।

जैन शिक्षणवर्ग समाचार

उत्तम वर्ग में—जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, छह कारकों का प्रकरण तथा जैन तत्त्व मीमांसा में से निश्चय-व्यवहार आदि, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में से अनेकांत और अध्यात्म शैली में 'मुख्य सो निश्चय' का प्रयोजन आदि विषय चला था।

मध्यम वर्ग में—द्रव्य संग्रह तथा जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला,

प्रथम वर्ग में—लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका, छहढाला।

कक्षा में मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, गुजरात के २०० करीब भाई आये थे, २० तक सभी ने बहुत तत्परता से-धर्म जिज्ञासा से सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को समझने का यथाशक्ति प्रयत्न किया, पवित्रज्ञान निधि परोसनेवाले पूज्य स्वामीजी आदि का सबने उपकार माना। पढ़ाई में यह विशेषता थी कि जो निश्चय-व्यवहार, निमित्त-नैमित्तिक संबंध तथा हरेक बात का प्रयोजन स्पष्ट करके समझाया गया था।

टेप रिकार्डिंग रील द्वारा प्रवचन प्रसार

प्रचारक श्री रमेशचंद्रजी जैन सोनगढ़ से तारीख १-९-६४ को रवाना हुये हैं। रतलाम, प्रतापगढ़, कुशलगढ़, अलवर, मदनगंज, अजमेर, कोटा, जावद, मनासानगर, नारायणगढ़, मंदसौर, बड़नगर, महीदपुर, उज्जैन, विदिशा, छतरपुर, लश्कर, गुना, अशोकनगर, भिंड, एत्मादपुर तक का कार्यक्रम है। अतः जहाँ प्रचारकजी पहुँचे वहाँ के बन्धु लाभ लेवें।

दस लक्षणी पर्यूषण पर्व

भाद्रपद सुदी ५ तारीख ११-९-६४ ये भाद्रपद सुदी १४ तक तथा क्षमावाणी पर्व बदी १ को मनाया जायेगा। उन दिनों में मंडल विधान सहित दशलक्षणव्रत उद्यापन आदि विविध पूजायें तथा प्रवचन में सवेरे उत्तम क्षमादि दशधर्म तथा समयसारजी, दोपहर को पद्मनंदिपंचविंशतिका में से श्रावकाचार अ०, देशव्रतोद्योतन-उपासक संस्कार के ऊपर प्रवचन, जिनमंदिर में भगवान की भक्ति आदि कार्यक्रम होगा। सुगंधदशमी, रत्नत्रय आदि व्रत जिन जिनके पूर्ण हुये हैं, उनके द्वारा उद्यापन भी होगा।

बेहद सामर्थ्यवान 'ज्ञ' स्वभाव

स्वभाव की मर्यादा क्या?—आत्मा का ज्ञानस्वभाव, शांति, धैर्य वीर्य (बल), सुखादि स्वभाव अमर्यादित ही है, ऐसा मैं हूँ; ऐसी असंग दृष्टिपूर्वक-पूर्ण ज्ञानस्वभावी आत्मा को साधनेवाले आत्मार्थी की धैर्य-पुरुषार्थ में भी असीमता होती है। उसको ऐसा नहीं लगता कि आत्मा को साधने के लिये मैंने बहुत किया, बहुत सहन किया, अब मैं थक गया, उसे तो ऐसा ही लगता है कि कहीं भी सीमा निश्चित किये बिना, रुके बिना मुझे तो आत्मा को साधना ही है। मुझे थकान नहीं आयेगी, मैं तो नित्य अप्रतिहत भाव से उत्साह बढ़ाता ही जाऊँगा।

तैयार हो गया! अवश्य मंगाइये!

आत्म प्रसिद्धि

श्री समयसारजी शास्त्र में वर्णित ४७ शक्तियों के ऊपर पूज्य श्री कानजीस्वामी के विस्तृत प्रवचनों का संग्रह, बढ़िया पुष्ट कागज, सुंदर जिल्द और सुंदर छपाई, पृष्ठ ६२०, घटाया हुआ मूल्य मात्र ४.०० रुपये। थोक लेनेवालों को १२ ॥ परसेंट कमीशन। यह ग्रंथ श्री सेठी ग्रंथमाला बंबई की ओर से छपा है।

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री प्रवचनसारजी शास्त्र तथा समयसारजी कलश टीका बड़े टाईप में छप रहे हैं, अल्प समय में छपकर तैयार हो रहे हैं।

देश व्रतोद्योतन प्रेस में है।

नया प्रकाशन

योगीन्द्रदेव आचार्य योगसार दोहा, और भैय्या भगवतीदासजी तथा कविवर श्री बनारसीदासजी कृत निमित्त-उपादान दोहा, तत्त्वज्ञान समझने में तथा याद करने में बड़ा सुगम और रोचक होने से थोक मंगाकर सभी जिज्ञासुओं में बाँटने योग्य है, नित्य स्वाध्याय करने योग्य है। बहुत बड़े टाइप व बढ़िया कागज में छपा हुआ है। पृष्ठ २४, मूल्य १२ नये पैसे मात्र। पोस्टेज अलग।

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) तीसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांत पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रंथ अवश्य पढ़नेयोग्य है, पत्र संख्या ९००, मूल्य लागत से बहुत कम मात्र ५) रखा गया है। पोस्टेज आदि अलग।

लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका (चतुर्थ आवृत्ति)

१८००० बुक छपकर बिक चुकी हैं, समाज में धर्म जिज्ञासा का यह नाप है। शास्त्राधार सहित संक्षेप में खास प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये यह उत्तम मार्ग दर्शक प्रवेशिका है। जैन जैनेतर सभी जिज्ञासुओं में नि:संकोच बांटने योग्य है। इंगलिश भाषा में भी अनुवाद कराने योग्य है। जिसमें अत्यंत स्पष्ट सुगम शैली से मूलभूत अति आवश्यकीय बातों का ज्ञान कराया गया है। बढ़िया कागज, छपाई, सुंदर आकार पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य-सिर्फ २५ नये पैसे, पोस्टेजादि अलग।

पता:—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
प्रवचनसार	प्रेस में	जैन बाल पोथी	०-२५
नियमसार	५-५०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
पंचास्तिकाय	४-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
आत्मप्रसिद्धि	४-०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।